विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य

लेखक की अन्य रचनाएँ

नाटक

एकला चलो रे	१.००
कालिदास	२.००
क्रान्तिकारी	१.५०
मुक्तिदूत	२.००
शक-विजय	१.७५
अन्तहीन अन्त	प्रेस में

एकांकी-संग्रह

विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य	३.००
आदिम-युग और अन्य नाटक	४.००
पर्दे के पीछे	३.००
सात प्रहसन	३.००
जवानी और छः एकांकी	३.००
समस्या का अन्त	प्रेस में

कविता

मानसी	प्रेस में
युगदीप	प्रेस में
अमृत और विष	प्रेस में

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य

उदयशंकर भट्ट

१६६०

आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली

VISHWAMITRA AUR DO BHAV - NATYA

by

Uday Shankar Bhatt

Rs. 3.00

प्रकाशक

रामलाल पुरी, संचालक

आत्माराम एण्ड संस

काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य	:	रुपए	३.००
आवरण	:	योगेन्द्रकुमार	लल्ला
मुद्रक	:	मॉडर्न इलैक्ट्रिक प्रेस, दिल्ली	

प्रकाशक की ओर से

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि, नाटककार और समर्थ उपन्यासकार श्री उदयशंकर भट्ट ने हिन्दी-साहित्य में बहुमूल्य योग दिया है इसी कारण वह आज साहित्य के बहुमुखी क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

विश्वामित्र, मत्स्यगन्धा और राधा—तीनों भाव-नाट्य कालान्तर में अलग-अलग प्रकाशित हो चुके-हैं। इन भाव-नाट्यों की साहित्यिकों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है; आलोचना-पुस्तकों और समीक्षा-लेखों में इनकी विषद् चर्चा भी हुई है। इन नाटकों की विषय-धारा विशेष रूप से नाटकीय तथा काव्य-प्रधान है। तीनों कृतियाँ कवि के कवित्वमय क्षणों और कल्पना के आवेग का परिणाम है।

इसी प्रकार बड़े नाटकों और एकांकी-नाटकों में श्री भट्टजी ने जीवन के विविध रूपों का चूड़ान्त दिग्दर्शन कराया है। कविता एवं काव्य-नाटकों के अतिरिक्त उपन्यास के क्षेत्र में भी उनकी देन असाधारण है। पिछले चालीस वर्षों की सतत साधना द्वारा उन्होंने अपने मौलिक जीवन-दर्शन से हमें जो कुछ दिया है वह परिपक्वता, जीवनानुभूति से ओतप्रोत है।

इसलिए उनके समादृत साहित्य का समुचित प्रकाशन करने का हमने निश्चय किया है। विश्वास है कि उनका एक साथ प्रकाशन पाठकों को रुचेगा।

क्रम

स्पष्टीकरण

कविता-बद्ध नाटकों को इतिहास में गीति-नाट्य की संज्ञा दी गई है। इन नाटकों में मानव के हृदय के संचारी भाव का अभिव्यक्तीकरण होता है। क्रिया इनमें है, पर सामान्य नाटकों की भाँति नहीं। इसमें क्रिया मानसिक है। इसीसे भावों का उत्थान-पतन होता है। जहाँ गीति-पद्य में स्वरसभावों का संचालन होता है, उसे गीति-नाट्य कहते है। गीति-काव्य भाव-नाट्यों का वहिरंग है। प्रसादजी की 'कामना' में आन्तरिक और वाह्य-क्रियात्नकता है।

मन के विकारों को मनोभाव कहते है। दूसरे शब्दों में भाव मानसिक आवेग है। इनसे आन्तरिक सृष्टि का सचालन होता है। इन्हीं भावों का चित्रण भाव-नाटकों में है इसी से मैंने इनकी संज्ञा 'भाव-नाट्य' दी है; गद्य की अपेक्षा पद्य में भावों के सूक्ष्म चित्रण, कल्पना का योग रहने तथा मर्मस्पर्शिता का अवसर अधिक रहता है।

जिन नाटकों का सम्बन्ध उनकी वाहरी भावनाओं चेष्टाओं से होता है, उनको गद्य में लिखा जाता है। पर आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति के लिए गद्य उपयुक्त नहीं होता। पद्य में ही आन्तरिक भावों की अनुभूति अधिक संभव है। इस अनुभूति के लिए तदनुकूल मनःस्थिति होनी आवश्यक है। कविता में भावों को तरंगित करने की शक्ति गद्य की अपेक्षा अधिक होती है अतः भावपूर्ण नाट्य लिखने के लिए गद्य की अपेक्षा पद्य सदा उपयुक्त रहता है।

मानव के स्वरूप चित्रण की दृष्टि से नाटक दो प्रकार के है—वाचिक और मानसिक। वाचिक को ही आंगिक या कायिक कह सकते हैं। वाचिक में अंग निक्षेप का प्राधान्य रहता है, अतः उसमें संवाद यथासाध्य छोटे होने चाहिए पर यह भाव-नाट्य मानव के भाव-जगत से

सम्बंधित होने के कारण संवादों में उच्च-स्तर का विशद् मानसिक विश्लेषण करते हैं। यह विश्लेषण बहुमुखी होना भी संभव नहीं। भाव अपने में एक अदृष्ट क्रिया है। अतः उसे साधारण रूप में अल्प-शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। एक भाव के उत्तर में दूसरा भाव समुपस्थित किया जाता है, जिनके व्यक्तीकरण में शब्दों का लोभ किया ही नहीं जा सकता; अतः भाव-नाट्यों या कल्पना-प्रधान नाटकों में संवाद कभी-कभी लम्बे होने स्वाभाविक हैं।

नाटक शब्द का सम्बन्ध ही नाट्य-अभिनय से है। यह भाव-नाट्य रंगमंच पर सफलता के साथ खेले जा सकते है। पर इनके लिए इनके उपयुक्त रंगमंच तथा उस स्तर के भावुकता-प्रवण दर्शक हों। भावना-जनसाधारण की वस्तु नहीं अतः भाव-नाट्य सामान्य जन-समूह के समक्ष नहीं खेला जा सकता। इसके अतिरिक्त भाव-नाट्य मूलतः प्रतीक से बल ग्रहण करते हैं। एक मनोभाव के अन्त और दूसरे भावों के बीच में जो तरंगायित योग है वह सदा प्रतीकों द्वारा ही स्पष्ट होता है।

प्रस्तुत पुस्तक 'विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य' में तीन नाटक हैं। इसलिए इनमें क्रिया-संकलन (unity of action) नहीं है। तीनों की वस्तु भिन्न-भिन्न होते हुए भी तीनों में नारी और पुरुष के चरित्र का दिग्दर्शन है।

पहला नाटक 'विश्वामित्र' है। इसमें केवल तीन पात्र हैं—विश्वा-मित्र, उर्वशी और मेनका।

विश्वामित्र प्रचंड तपस्वी और 'अहं' प्रधान पुरुष हैं। भारतीय पौराणिक युग में दुर्वासा और विश्वामित्र दो महान् क्रोधी और प्रचंड-तपस्वी हुए हैं। पुरुष का पौरुष तभी पूर्ण होता है जब उसका 'अहं' उसे सदैव जागरूक रखे और अहंभाव की पूर्ति के लिए क्रियाशीलता हो। यह क्रियाशीलता अहंकार के दबने पर क्रोध को जन्म देती है। पौरुष की अन्वति उसके अहंकार और क्रोध में है। दुर्वासा तपस्वी हैं, क्रोधी है तथा प्रचंड क्रोधी हैं। पर उनमें अहंकार उग्र नहीं हैं। उनमें मनुष्य का

पूर्ण रूप नहीं है। अतः मैंने दुर्वासा को इस नाटक का नायक नहीं माना।

दूसरी ओर विश्वामित्र में अहंकार और क्रोध दोनों है। विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय थे। उनमे अहंकार का प्राधान्य था। अहंकार से ही क्रोध होता है। यह क्रोध होता है अपनी भावना-पूर्ति में विघ्न से। विश्वामित्र ने ब्रह्मर्षि बनाना चाहा था पर वह अपना अहंकार और क्रोध न छोड़ सके। वह सात्विकवृत्ति वाले न बनकर राजसी वृत्तिवाले ही बने रहे। इस प्रकार वह पुरुष ही बने रहे, जबकि इस क्षेत्र में विश्वामित्र में दुर्वासा से अधिक पौरुष है।

सात्विकवृत्ति होने पर प्राणी देवत्व को प्राप्त होता है, राजसी वृत्ति रहने पर उसमें मनुष्यत्व प्रधान होता है और तामसी वृत्ति हो जाने पर वही राक्षस कहा जाता है।

यहाँ अहंकार शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में है। अहंकार का अर्थ गर्व मात्र नही है। गर्व और अहंकार में अपने अस्तित्व के प्रति अहंभाव रहता है। अहंकार अपनी व्यक्त सत्ता का सुस्पष्ट उद्घोष करता है। अपनी शक्ति का सच्चा ज्ञान होने पर 'मै यह हूँ' रूप में अहंकार का उदय होता है। मैं अमुक से ऊँचा हूँ। मेरे समान कोई नही है। यह भावना गर्व है। इसे ही दंभ कहते हैं। यदि इस दंभ में घृणा का और योग हो जाए तो वह तामस-वृत्ति में परिणत हो जाता है।

विश्वामित्र में अहंकार की चरम सीमा है। मेरे तप का तीव्र तेज है बढ़ रहा।' यह अनुभव विश्वामित्र करते है और कहते हैं—

> बुझ सकते रवि मेरे भृकुटि निपात से
>
> × × ×
>
> ब्रह्मा पा संकेत सृष्टि रच दें अभी
> और स्वयं मैं भी तो...मैं क्या हीन हूँ ?
> चाहूँ तो संसार चरण पर आ गिरे।
> और नये संसार बनें, नवकाल हो।
>
> × × ×

रचदूँ अपर विराट ब्रह्म को मैं स्वयं,
रचदूँ हरि, हर और विधाता इन्द्र भी;
× × ×
कौन शक्ति, अथ कौन चाह दुर्लभ मुझे;
नहीं मुझे अब कुछ भी है अज्ञेय जग
ज्ञेय तथा अतिगूढ़ गिरा अभिसार सा।

यह है मानव के अहंभाव का चरम विकास। विश्वामित्र मानव के इस अहंभाव का प्रतीक है। उग्र तप से यह और भी तीक्ष्ण हो गया है। उनमें यह अभिमान भर गया है कि वह स्वयं सृष्टि रच सकते हैं। आज का मार्क्सवादी भी मानता है कि सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य है। उससे ऊपर कोई नहीं है। विश्वामित्र में भी यही भाव है 'फैसिजम' के रूप में।

'अहं' प्रधान पुरुष के समक्ष नारी है। उसके दो स्वरूप हैं। एक वह रूप जो पुरुष के जीवन को अपने स्नेह से अलोकित करने को बढ़ती है जो अपनी 'रूप-पिपासा' की शान्ति का आश्रय पुरुष को मानती है और उसे अपनाती है।

दूसरी ओर पुरुष के शासन में अपने को विवश अनुभव करने वाली नारी है। वह मानव की शक्ति, बल और दर्प से टक्कर लेने को प्रस्तुत है। इस नाटक में मेनका और उर्वशी क्रमशः नारी के ये दो रूप हैं। उर्वशी मनुष्य के प्रति नारीत्व के घृणा की प्रतीक है—

मैं करती हूँ घृणा मनुज से इसलिए
जग का साधन हमें बना सुख ले रहा।

पर वह नारी है, उसमें अधीर और अतृप्त नारीत्व है, वह कहती है—

अरी मेनके, इस सुन्दरतर विश्व में,
जीवन-नौका मृदुल हृदय की आस-सी

घन तड़िता सी शनै शनै अथ क्षिप्रतर
बहती भृकुटि कटाक्ष दण्ड ले राम का ।।
× × ×
प्राणों में फिर एक बार अविराम मृदु
सौन्दर्य का एक अनुर्वर गीत है।
ताक रही हूँ, इधर उधर पाती नहीं,
कोई भी आधार मुझे मिलता नहीं।
× × ×
सुन्दरता के कनर पंख यह कौन है,
फेंक रहा जो अन्धकार के कूप में ?

इसके लिए वह दायी समझती है पुरुष को। वह पुरुष को इतना अनुत्तरदायी समझती है कि—

यह कच्ची मिट्टी है चाहे लो बना
किन्तु अन्त इसका पत्थर से भी कड़ा।
यह लोहा है जो न पिघलता सहज ही
और सहज ही फिर होता है अति कठिन ।।

पर मेनका स्वस्थ नारीत्व की प्रतीक है। वह नारी होने के कारण अपने को पुरुष का प्रतिद्वन्द्वी नहीं मानती वरन्—

मैं न घृणा करती हूँ नर से हे सखी,
वह तो मेरे रूप हृदय की प्यास है।
जिसमें जीवन तत्त्व बह रहा है सुखद
और हृदय की सीमाओं को छू रहा।
× × ×
हृदय - प्रेम - आनन्द हमारी सृष्टि है।
क्षण क्षण निर्मित होता है अनुराग यह
और व्याघ्र सा काल लीलता है जगत।

हम अभिनव की एक मनोरम रागिनी
जिसमें स्वर माधुर्य उठ रहा है सतत ॥

स्नेह से आपाद मस्तक डूबकर नारी दीपक के प्रकाश दान की भाँति स्नेह दान देना ही जानती है। पर वह जानती है कि पुरुष के 'अहं' के पीछे क्या है। इसीसे तो मेनका अपने नारीत्व को दाँव पर लगा देती है। वह जानती है कि पुरुष का 'अहं' ही उसकी कमजोरी है। वह कहती है—

अरी 'अहं' ही इसकी कच्ची नींव है,
और स्वार्थ के सोपानों पर चढ़ रहा।
जिस पर है कंकाल मनुजता का खड़ा
गिर जाता है एक ठेस खाकर वहीं।
आज नचाऊँ क्षुद्र जीव को नाच मैं,
और दिखाऊँ नर में क्या कमजोरियाँ।

× × ×

किन्तु मेनका केवल इस ऋषि को यहीं
वश कर दिखला देगी, नारी कौन है।

पर उर्वशी तो नारी की इस शक्ति से जैसे सर्वथा अनभिज्ञ थी। वह तो नारी की बेबसी से ही परिचित है। उसे अपने नारीत्व का न तो अभिमान है और न नारी होने का उल्लास। वह कहती है—

नारी प्राण विहीन चेतना से रहित
एक भावनापुंज पराई आस है।
वह विलास स्वच्छन्द पुरुष के प्राण की
मदिरा, जिसको स्वयं नशा होता नहीं॥

पर मेनका के लिए तो—

वह सत्ता है कोमल जग के तत्त्व की
और कल्पना सहज विधाता हृदय की।

× × ×

मानव के नैराश्य पुंज में दीप की,
ज्योति शिखा है, नारी, नर की चाहना।

इसके अतिरिक्त

लय में हूँ आरोह, प्राण में श्रास हूँ।

यह नारीत्व का पूर्ण ज्ञान है। नारी के आत्मविश्वास, आत्मज्ञान का परिपक्व रूप है। यह नारी का पूर्ण तथा स्वस्थ रूप है।

स्वस्थ नारीत्व की प्रतीक मेनका और उग्र विकसित पुरुषत्व के प्रतीक विश्वामित्र में जब संघर्ष होता है तो पुरुषत्व एक झटका खाकर बिखर जाता है और नारीत्व की ओर आकृष्ट होकर पूछता है—

कौन कौन, तुम कौन, यहाँ क्या कर रही
मेरे अन्तर रोम रोम में लीन हो?

पर नारी की उपेक्षा ने उसमें शून्यत्व जागृत कर दिया और पुरुषत्व हुँकार कर उठा—

कौन कहाँ से आया जलता दीप लघु
मुझ रवि के सम्मुख सत्ता क्या दीप की?
कौन कौन री तू नारी, क्या कर रही?

और नारी की साधारण झिड़की—

मैं न जानती समझती
एक ढेर से मिट्टी के तुम कौन हो?

सुनते ही पुरुष का दम्भ और क्रोध उबल पड़ता है। विश्वामित्र पूछते है कि री वज्रमति, तू मुझ महामुनि प्रतापी विश्वामित्र को नहीं जानती? मैं चाहूँ तो क्षणभर में नवसृष्टि रचकर—

'तुझ जैसी उत्पन्न करूँ शत नारियाँ'

पर क्रोध के समक्ष सच्चा नारीत्व कहीं कुंठित होता है! वह अपनी शक्ति के बल पर आगे बढ़कर कहती है—'होंगे विश्वामित्र, मुझे क्या, चक्षु-गोलकों में समाधि का सिन्धु भर सो रहो और अहं का आस्वादन करते रहो।'

यहाँ नारी पुरुष का संघर्ष तीव्रतर हो जाता है। विश्वामित्र मेनका को निर्लज्ज, साहसिके और मन्दानिले कहकर सम्बोधित करते हैं। अपने अपमान के कारण दम्भ उभरता है। साथ ही कमजोरी भी उभरती आती है—

जाने जाने क्या सोता सा जागता
तुझे देखकर मन में लहरें उठ रहीं।

मेनका तीक्ष्ण कटाक्ष कर कहती है कि मैं तुम्हे क्यों देखूंगी, मुझे तुमसे क्या काम ? इसके साथ ही वह नाचने लगती है। पुरुष के मस्तिष्क मे दम्भ और दुर्वलताओं का संघर्ष होता है। ज्यों-ज्यों दुर्वलता बढ़ती है, दम्भ दबता है और वासना उभरती आती है। मेनका का रूप-सागर, वासन्ती-वातावरण और मेनका के आकर्षण हाव भावों के समक्ष अहम् दव जाता है। मेनका के नाचते-नाचते दूर चले जाने पर विश्वामित्र फिर समाधि लेने की सोचते हैं पर वासना का रंग इतना प्रगाढ़ हो चुका है कि समाधि सम्भव नहीं और वह कह उठते है—

अरे, भूलता रहा, प्रेम ही प्राण है।
प्रेम हृदय का उर्वर सृष्टि विलास है।
भूल गया हूँ, मैं भी था तापस कभी
तापस, नीरस जीवन की लघु प्रेरणा
जिसमें ईश्वर नहीं अह का वास है।

तब महामुनि मेनका की मुस्कान पर कई सृष्टियाँ, कई योग, तप वार देने को प्रस्तुत हो जाते हैं। उनका हृदय तप की केंचुल त्याग प्रिया के विश्व मूर्त को चूमने के लिए उफनने लगता है।

मेनका प्रकट होती है, ऋषि आलिंगन को बढ़ते हैं। वह उनके अहं-भाव को जगाती है। कहती है तुम प्रबुद्ध, ब्रह्मज्ञ, महामुनि हो, यह क्या ? तुम्हें हो क्या गया है—

'मुझे न नर से कोई भी कुछ काम है
जाओ, हम तुम दोनों ही अति दूर हैं।
जाओ, जाओ मै कुछ सुन पाती नहीं।

इस प्रकार संघर्ष चलता है। मेनका जैसे-जैसे उससे दूर होती जाती है और विश्वामित्र में भी अहंभाव घटता जाता है। इस प्रकार अहंकार निकलकर मानव का वास्तविक रूप विश्वामित्र में प्रकट होता है। वह विरह-दग्ध होकर बेचैन हो जाते हैं और कहते हैं—

अरे प्राण की निखिल ज्योति कम्पित हुई।
रोम रोम में विस्मृति की लहरें उठीं।
स्मृतियों पर चित्रित करतीं सी राग को
घोर नशे-सी झूम रही हो नेत्र में।

प्राण शत-शत नेत्रों से तुम्हारी मंजु मनोरम-मूर्ति तरु, किसलय, मकरन्द, अलि गुञ्जन, पवन प्रसर ओस, चन्द्र तारक हास सभी में देख रहे हैं।

तुम बाहर नहीं हो, हृदय में छिप रही हो, अरी प्रिए ! तुम आंखो में ही क्यों झूम रही हो। आँखों में छिपी हुई को पकड़ने के लिए विधाता ने हाथ भी नही दिए। मैं तापस, छि: मैं तापस नही मैं रसिक, रसिक-वर हूँ···यह क्या हृदय काँपता है, धड़कन उड़ती जा रही···मेरा जीवन मृत सा हो गया·· ···आशाएं जल उठीं, रोम भी जल रहे है, कुछ भी कोई नहीं, विरह है और आग ही सर्वत्र है···

···सर्वत्र तुम्हीं दिखाई देती हो गुलाब का हास तुम्ही। शतदल तुम्हें खोजने के हेतु शत आँखें किए देख रहा है। मेरा रोम-रोम वाणी बन गया है। और तुम्हें विश्व में पुकार रहा है। नही मिलोगी—

फिर जीवन में साध···अब तो मृत्यु ही समस्त श्वास की साध है। यह कहकर विश्वामित्र एक शिला खण्ड से गिरने लगते है, मेनका बीच में हाथ पकड़कर रोक लेती है और कहती है—

प्रिय 'वियोग से सभी 'अहं' मल घुल गया।
हृदय, प्रेम कादम्ब पियो आकण्ठ तक
नारी सुधा, पिपासाकुल नर की सुखद
शुभ्र प्रेम की मदिर हृदय की चेतना।
ओ मानव तुम कितने सुन्दर मधुर हो।
कितने ऊँचे हृदयवान, जाना न था।

पुरुष भी कहता है—

ओ रमणी, सच्चार तुम्हीं हो प्राण का
मैं अज्ञानी मूढ़, भूल सा था गया।

नारी अपने को और पुरुष को पहचान कर कह उठती है—

अरे नहीं मानव मद को है प्यास ही
यह नारी के सुखद स्वप्न के जगत में
हँस जाता आँखों में आकर जब कभी

× × ×

क्रोध, मान, अपमान, भर्त्सना, ताड़ना
कहाँ न जाने कहाँ भाग जाते सभी
और हृदय पानी सा होकर सतत ही
बहने लगता है प्रवाह में···प्रेम में।
ओ प्रिय, ओ प्रिय······

वह मेनका ऋषि से आलिंगन बद्ध हो जाती है। विशुद्ध नारीत्व का पुरुषत्व से संघर्ष समाप्त हो जाता है दोनों के संयोग से। इसके बाद का नारीत्व मातृस्वरूप से जागृत होता है। पुरुष के प्रति नारी का संघर्ष मातृत्व में जाकर समाप्त हो जाता है पर पुरुष में फिर पुराने संस्कार जागृत होते हैं।

मेनका स्वात्मजा बालिका को देख आवेग और उल्लास से कहती है—

इसके सम्मुख स्वर्ग, सुधा, सुख, हेय है।
हेय, मान, सम्मान, ज्ञान, अपवर्ग भी।
देखो, ऋषि देखो, हम दो का स्वर्ग यह
भोला, छल बल-हीन, मधुर पीयूष सा।
विश्व वार दूं स्वर्ग वार दूं सैकड़ों।

पर पूर्व संस्कार जाग्रत होने पर विश्वामित्र कहते हैं—दैव हा!

गरल अमृत के धोखे में मैं पी गया।

और नारी की घृणा का प्रतीक उर्वशी आकर फिर मेनका के स्वस्थ नारीत्व में आग लगा जाती है—

गरल अमृत के धोखे में तू पी गई
... ...
भूल गई है अरी मेनके, आज तू
क्या करना था तुझे कर रही और क्या!
... ...
किन्तु मेनका केवल इस ऋषि को यहाँ
वश कर दिखला देगी, नारी कौन है?
भूल गई ये वाक्य और प्रण जो किए।

मेनका सचेत होकर देखती है और नवीन रूप कहीं नहीं पाती—

'है यह कैसा? समझो कितनी भ्रान्ति थी?

वह मातृत्व छोड़कर चली जाती है।

विश्वामित्र के पुरुष का अहंभाव फिर जागृत होता है और अपनी दुर्बलता अनुभव करता है। अब नारी की चेतना पर रीझने को वह सुख पर दुख का वज्र गिरना मानता है। वह ऊपर उठने की चाह को जीवन की सफलता तथा मानव का अधिकार मानता है। मेनका के जाने पर विश्वामित्र कहते हैं—

गई हृदय में आग लगाकर उड़ गई
गई व्यर्थ सा कर नर के उल्लास को।

पर बाद में सोचकर कहते हैं—

'हैं यह क्या, यह क्या, मैं भूला लक्ष्य निज।'

....

कुछ भी स्थायी नहीं विश्व में एक 'मैं'—
का मिल जाना ही महान् में सार है।
क्यों न आज फिर 'अहं' खोजने को चलूँ।

अपने पतन की ग्लानि से आपन्न ऋषि बालिका का भी मोह नहीं करते।

नहीं बालिके, मैं न रुकूँगा तनिक भी।

मानव में अहकार, उसका धीरे-धीरे कम होना, प्रेम का उदय होना, प्रेम की परिणति, विजय के बाद विलास का होना और तदनन्तर मानव में फिर पुराने संस्कार जागृत होना, यही क्रम है। मानव के यही संचारी भाव प्रतीक रूप में इस भाव-नाट्य में उपस्थित किए गए हैं—

दूसरा नाटक 'मत्स्यगन्धा' है इतिहास में इसका नाम सत्यवती ही है। भारतीय पौराणिक साहित्य में मत्स्यगन्धा ही चिर यौवन की प्रतीक है। यौवन में काम-संगीत गाता है। शान्तनु संसार है जिसने उसे भरमा लिया है। पराशर—मानव-यौवन की कमजोरी है। यौवन की वह ऊँचाई है जहाँ मत्स्यगन्धा ने आत्मसमर्पण किया है। उद्दाम यौवन की तृप्ति के लिए उसने मत्स्यगन्धा को चिर युवती होने का वरदान दिया है।

जीवन रथ पर चढ़कर मत्स्यगन्धा जब बाल्य काल को पीछे छोड़ देती है; और यौवन की मरोर में प्राणों के तारों में झनझनी उत्पन्न होने पर विह्वलता की चादर फैला देती है, और स्वयं यौवन की देहली पर खड़ी भीतर झाँकती है, तब उसे सर्वत्र सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है।

.........सुन्दर महान् सब।
नित्य देखती हूँ सखि, मुक्त-गुच्छ तारिका का
नभ में अनभ्र हास, क्षितिज के मुख पर

रोली सी लाल लाल, होली खूब जलती है,
जैसे सारे नभ का अनल जल जल कर
मदहीन उसे कर देने उठ आया आज।

वह स्वयं आत्म विभोर हो उठती है। उद्दाम यौवन सिर उठाकर चौराहे पर उसे चारों ओर देखने को विवश कर देता है—

मानता नहीं है मन, यौवन की क्या लहर
कहता जगत जिसे, होगी वह कैसी भला ?
कौन जानता है, कौन सोता मेरे पास छिप
जान सकना कठिन। किन्तु देखती यही कि कोई
राग सा बजाने मेरे प्राणों की बीन पर।
चल चल आता है। कौन है बता तो वह ?

चुपचाप शरीर मे प्राण में छा जाने वाला यौवन जो करवट बदल रहा है, उससे मत्स्यगन्धा सर्वथा अपरिचित है। इसी से वह अपनी सखी शुभ्र से पूछ बैठती है—

जाने कैसे हो रहा है, कैसा यह हो रहा है,
मेरी सब इच्छा की सीमाएं बिखरती है।
जैसे मै अनन्त मद, किन्तु हुई मदहीन ?

सखी भी क्या बताए वह अपनी बात कह देती है—

मै क्या हाय, मैं क्या जानूं जानती नहीं हूं कुछ।
मै तो चाहती हूं शुभ सुमन की मंजुमाल
बन जाऊं, बन जाऊं शरद सुधांशु सी
और नभ हास का विलास लिए फैल जाऊं
खोल निज हृदय बिखेर दूं प्रमत्तमधु।

बस, इसी स्थिति मे छायामय अनंग प्रवेश करता है। मत्स्यगन्धा पूछ बैठती है—'आप कौन ?' अनंग बताता है—'मै अनंग विश्वरंग' मत्स्यगन्धा—'क्या काम ?'

अनंग—

'प्रताड़ना, विमोह मृदु'

× × ×

सुमनों में पुष्परस, कण्ठ कल कोकिल में,
हूँ प्रगल्भ हास में, जपा में अरविन्द कुन्द
गर्विता सुमालती में मदिर मदिर गन्ध।
यौवन में तृप्ति हीन तृष्णा, प्ररोह लोम॥

मत्स्यगन्धा—

किन्तु प्रिय मानव में—!

अनंग—

सैकड़ों वसन्त हास,
शत शत उद्‌गार, शत शत हाहाकार,
प्रणयों में पीड़ित हृदय का अवर्ण्य छन्द।

मत्स्यगन्धा—

तुम्हें देख हे अनंग, प्राण नव आस लाया।

× × ×

कैसे तुम सुन्दर ज्यों मिश्रण हो शैशव का
यौवन का, तारिका का, विधु का, विलास सब।
आहा तुम्हें देख मानो जीवन परम साध
जुड़ आई हो ज्यों बाल रवि ऊषा संग संग

× × ×

अष्टमी के चन्द्रमा की फाँक ऐसी शुभ्र आँख
कर्ण कुहरों से कुछ कहने चली है आज।

अब अनंग स्पष्ट कह देता है—

मैं तो प्रिय यौवन अनन्त हूँ, अनन्त दान
यौवन अनन्त मान, ध्रुव सो विरुद माल,
विश्व के समस्त सुख का हूँ एक ज्योति पुंज
पद चाप हीन नित भू पर उतरता।

तुझे अपनाने आया........

यौवन आने तथा यौवन का रहस्य समझने पर स्वतः उसके उपभोग का प्रश्न सामने आता है। इसके लिए कोई पात्र चाहिए, कौन वह हो, कैसा हो वह, वह कैसा हो सकता है, आदि प्रश्न मानस में उठने है। मैं मल्लाह की बेटी, मेरा काम केवल यात्रियों को पार उतारना, मैं इस यौवन का क्या उपभोग कर सकूंगी, आदि कितने ही भाव मानस में तडितवत् आए गए और मत्स्यगन्धा चिल्लाने लगी—ओ अनंग ओ अनंग !

मैं दरिद्र केवट की बेटी हूँ, उपाय हीन।
एक उल्का-पात सी निरर्थ धरा धाम पर
छोड़ दो मुझे न व्यर्थ पात्र करो हे अनंग ?

पर इससे अनंग भला कैसे रुके वह तो अनन्तदानी है वह कह देता है—मैं न देखता हूँ धन, वैभव-अतुल-बल मत्स्यगन्धा कहती ही रह जाती है कि—

किन्तु मुझे चाहिए न हे अनंग, यह दान
मेरे लघु प्राण में अनन्त अब्धि मदभार
कैसे आ सकेगी हाय, कैसे मैं उठाऊँ बोझ।

अन्त में अनंग कह देता है—अरे यह अवसर भी कब बार-बार मिलता है। एक बार मिलने पर भी जब ज्ञान उदित होता है तो वह एक बार का यौवन भी चला जाता है।

बस यौवन दान दे अनंग चल देता है। शैशव सर्वथा सो जाता है और यौवन अदम्य अँगड़ाई लेकर जाग उठता है।

यौवन की इच्छा सभी में जागृत होती है। यौवन के साथ-साथ मत्स्यगन्धा में वासना का भी उदय होता है। यौवन का वास्तविक स्वरूप सृष्टि सृजन है, इसीलिए उसमें वासना आती है। वासना के जागृत होने पर मिलन की भावना जगती है।

यौवनागमन और अनंग की क्रीड़ा से सन्तप्त मत्स्यगन्धा कह उठती है—

यह ग्रन्थि, यह ग्रन्थि सुलझेगी या कि नहीं,

× × ×

दाह कर सुख कर पिपासा न शान्त होगी ?

इसी समय पराशर उस पार जाने के लिए सामने उपस्थित होते हैं। मत्स्यगन्धा उन्हें देख अपने आप से कह उठती है—

हैं हैं, यह कौन, प्रिय यौवन का एक दीप

नर अभिलाषा का निपट अवसान पुंज।

मत्स्यगन्धा जागृत नारीत्व की प्रतीक है और पराशर अपरिचित पुरुषत्व का। उसका नारीत्व आत्म समर्पण के लिए विकल है और पराशर का पुरुषत्व उसे ग्रहण करने के लिए।

किन्तु समर्पण से पूर्व समाज, धर्म, लोक लाज सभी का रूप, सभी का भयावह स्वरूप सामने आता है—मत्स्यगन्धा कहती है—हीन जाति तो भी है, समाज का अनन्त भय। पराशर उसे यह कह तुष्ट करते हैं—

.........समाज का विधान तो मनुज कृत।

छिन्न कर देता वही जो इसे बनाता कभी

मानव की प्ररणा का फल ही नियम है।

इस पर वह धर्म की बात कहती है। पराशर समझाते हैं।

.........धर्म है अनन्त रूप।

× × ×

सृष्टि मूल धर्म है, प्रकृति मूल कर्म सदा।

श्रद्धा मूल भक्ति है, समाज फल मूल है।

× × ×

मानता है मानव जिसे ही धर्म वस्तु आज

कल वही होती अविधेय नर लोक में।

अन्त में वह नारी-धर्म की बात कहती है—

अपने को चीन्हती, स्वधर्म को भी चीन्हती
नारी के स्वरूप, सुख शोभा में छिपे हैं देव,
संख्या हीन अभिशाप, संख्या हीन यातना
वासना का वेग बहता है अति भीम वहाँ,
कृच्छ्र दमनीय, वह प्रलोभन पुंज और
आकर्षण। नारी एक श्वेततम पट सम
जिस पै तनिक बिन्दु पात भी कलंक है

× × ×

अपयश, अपलाप नारी के लिए है सृष्ट
जीवित ही नारी का मरण कर डालते।

पराशर उसे स्पष्ट समझा देते हैं कि—

ऊँच नीच कोई नहीं, पाप पुण्य कहीं नहीं
कर्माकर्म कुछ नहीं, ओ' अनंगरंजिते!

× × ×

मानव समस्त विश्व चेतना का मूल है।

इस पर वह अपने कन्या होने की बात कहती है। पराशर उसे भी कलंक हीन बताते हैं मत्स्यगन्धा अपने इस यौवन को चिरस्थायी देखना चाहती है। पराशर वरदान देते हैं अनन्त मद राशि हो। पर साथ कह देते हैं कि नारी प्रिय भी सदा प्रिय नहीं लगता है।

मत्स्यगन्धा को अभीप्सित होने पर वह उसे चिर यौवन का वरदान देते हैं और इसके बाद नारीत्व समर्पण करता है, पुरुष उसे ग्रहण करता है।

जाग्रत नारीत्व के समर्पण और सृष्टि सृजन के प्रयत्न के बाद उसे जिस आनन्द का अनुभव होता है वह चतुर्थ दृश्य में वर्णित है। इस आनन्द में विस्तृत कड़ियों को वह जोड़ने का यत्न करती है।

मैं न कुछ कह सकी, रोक ही सकी न हाय
इन्हें इस कार्य से, अकार्य से, विमूढ सी।

वह कहती है—

हाँ हाँ वह वरदान हुआ सत्य आज ही तो
कोई भी न काम्य आज, कामनाएँ दासी मेरी

× × ×

मेरे ही यौवन का प्रकाश 'शीत रश्मि' लिये
पृथ्वी में पुलक पल घूमता है झूम झूम।

× × ×

मेरे ही यौवन का प्रकाश 'उग्ररश्मि' लिये,
जीवन में रस का प्रभाव भरता है नित.
औ' अनादि सुन्दरी उषा के निन्द्य आनन को
चूमने की लालसा में दौड़ता सा दीखता,

× × ×

बालक है सीढ़ी एक जीवन के लक्ष्य हेतु
यौवन ही जीवन का एक मात्र ध्येय सखि ?

'और जरा क्या है ? यह सुभ्रु ने पूछ लिया। मत्स्यगन्धा कहती है—

हाँ जरा है पतझड़ ही तो,
एक कंकाल मात्र, जर्जर, रसहीन
आज इस यौवन की मैं अजस्र रसधार···

यौवन के इस दुर्दम, उद्दाम तथा अजस्र वेग मे रोक लगाती है। मत्स्यगन्धा के यौवनाधार महाराज शान्तनु आखेट के समय मत्स्यगन्धा के ध्यान में मग्न असावधान होते हैं, तभी सिंह ने वेग से आक्रमण कर दिया। आहत अवस्था में घर में लाए गए। इसकी सूचना जब सुभ्रु मत्स्यगन्धा को देती है वह चौंक पड़ती है। यौवन—चिर यौवन के आनन्द का जो उल्लास अब तक उसके मानस को आप्लावित किए था, उसका वेग एक झटके में उतर जाता है और उसके सामने प्रश्न उपस्थित है—

सत्य ही क्या यौवन के अन्तर में कंकाल
नाचता है चुपचुप धूमिल सी रेख डाल ?

तत्पश्चात् महाराज का निधन हो जाता है। महाराज शान्तनु संसार प्रतीक है। उद्दाम यौवन को संसार भरमा लेता है जब उसकी कामना ...नि का समय आता है, संसार में सदा कोई न कोई बाधा आ जाती है। ...हाँ शान्तनु का निधन, वासना पूर्ति के साधनों की समाप्ति का प्रतीक है। उद्दीप्त यौवन वासना पूर्ति के साधनों के अभाव में प्यासा का प्यासा ही रह जाता है। वासना पूर्ति न होने पर जो निराशा और अशान्ति मानस में उत्पन्न होती है, वह यौवन-दीप्ति से संघर्ष करती है। यही छठवें दृश्य में वर्णित है।

मत्स्यगन्धा कहती है—

यौवन के सागर का अन्त ही नहीं है कहीं,
मेरा मन तूफानों में उड़ा हुआ जा रहा।
मेरा स्वर्ग हीन हुआ हाय, पुण्य पाप बना,
आशा औ' उमंग हुई भार है अनन्त की।

× × ×

जलती हूँ रवि सी अनन्त पाप पातकिनी,
जलती हूँ अग्नि सी प्रलम्ब देह यष्टि ले।
यौवन अनन्त-दान, यौवन अनन्त-मान।
अभिशाप वरदान—अवलाप वरदान?

× × ×

हन्त, हत यौवन का अन्त हीन यह वेग
धूमिल निबिड़तर, घोर तर घन तर।
हे महान् ऋषिवर पाराशर, क्यों दिया था
वर यह खरतर।......................

और अतृप्त यौवन में उषा नित आग बरसाती आती है, रवि शरीर को दिवस भर भूनता रहता है। संध्या प्राणों के तार खींचती है, यामिनी यम गर्जना करती है, पीड़ाओं को मूर्त रूप देती है।

वह बरबस चिलाने लगती है—

'अरे कब अन्त होगा और इस 'मद का भी।'
भूली नाथ, भूली नाथ, ले लो यह वरदान,
लौटाओ, लौटाओ प्रभु,क्षण भी युगान्त है।
यौवन का वेग ऐसा प्राणहीन देखा कब ?

इसी समय अतृप्त यौवन की खीझ मे अनंग उदित होकर पूछता है—

'देखो, अब कैसा लगता ओ तरंगिणी।'

कभी काम के अभ्युदय को जीवन सुखकर मानता था। यौवन के उभार में काम का आगमन वरदान होता है पर बन्धन-युक्त, अतृप्त, साधन हीन, अपंगु यौवन मे उसका आगमन उतना ही दुखकर होता है। अतृप्ति की खीझ में मत्स्यगंधा अनंग से पुकार कर कह उठती है—

तुम मेरे अभिशाप, जीवन के अपलाप
ले लो, लो दिया जो ले लो, अविलम्ब हे अनंग ?

अनंग भला अपना धर्म कब छोड़ता है वह तो कहता है—

यौवन भी जीवन का एक अति मृदुपल,
विश्व दृढ़ता के हेतु प्राप्त है जगत को।

× × ×

पियो, सुखमद यह यौवन का तृप्ति-हीन,
तृप्ति-हीन प्राण अभिषिक्त हों विलास से।
तोड़ दो नियम जाल अनुदेश मेरा यह...
पियो कण्ठ तक, पियो ओंठ तक ढाल ढाल
यौवन महान् है, अलभ्य है जगत में
विश्व डूब जाए भूति, विभव भी डूब जाए
प्रिये, पियो अमृत अजर मग्न मग्न हो।

मत्स्यकन्या कह उठती है—

हलाहल यह मधु पीना है कठिनतर
जीना है कठिन तम दारुण विपत्ति सा।

लौटाओ अनंग यह वेदना समुद्र सी
सीमा हीन अन्त हीन मन हीन, प्राण हीन।

किसी की इच्छा से यौवन भला कब आया है, कब गया है, काम-भावना कब उठी और कब समाप्त हुई है? स्थितियाँ अनुरूप हुईं तो यौवन और अनंग वरदान है अन्यथा अभिशाप। जो यौवन को वरदान ही माने उसके लिए अभिशाप भी वह हो सकता है, अनंग को इससे क्या। यौवन अभिशाप हो जाने पर भी अनंग अपना धर्म कब छोड़ता है—

आजीवन यौवन का वरदान है सुमुखि,
कब न हुआ है भार यौवन विफल का
यह तो रुदन तेरा अन्त हीन फल हीन
आजीवन वेदना से जड़ित अपंग सा।

चिर यौवन होने का वरदान माँगने वाली के लिए विफल यौवन क्या है, यह यहाँ बताया गया है। यह शाश्वत यौवन और अशान्ति का संघर्ष है। अशान्ति की चरम सीमा निराशा होती है। मत्स्यगन्धा अनंग से प्रार्थना अस्वीकृत हो जाने पर निराश कह उठता है—

हाय, मेरे जीवन का कैसा यह अपरूप
अपमान दीप्त है। न अन्त है अनंग रंग?

निराशा घनीभूत होने पर वह कहती है—

डूबो नभ, डूबो रवि डूबो शशि, तारिकाओ
डूबो घरे वेदना में मेरी ही युगान्त की।

इतना कह वह मूच्छित हो जाती है।

शैशव के अवसान पर यौवन का उदय, प्राणों की साँसों में काम का संगीत, यौवन के खुमार में संसार का रँग जाना, जीवन में यौवन शाश्वत हो, ऐसी कामना होना स्वाभाविक है। यौवन में वासना का उदय, वासना-पूर्ति के लिए पुरुष समागम, तज्जन्य आनन्द, संसार आनन्दमय दिखना भी स्वाभाविक है। फिर यदि यौवन की तृप्ति का मार्ग अवरुद्ध हो जाए तो मानस में जो हलचल होती है, जो अशान्ति का संघर्ष मचता

है, वही इसमें प्रतीक रूप से चित्रित है ।

मत्स्यगंधा यौवन की प्रतीक है, अनंग उसके अन्दर की उमंग है और यह नाटक चिर यौवन तथा उसकी अतृप्ति और अशान्ति का संघर्ष है ।

तीसरा नाटक 'राधा' है । इसमें भी यौवन का चित्रण है पर पहले दो नाटकों से सर्वथा भिन्न । यौवन दो प्रकार का होता है—(१) वासनामय (२) वासना-हीन (आध्यात्मिक) । राधा का यौवन वासना-हीन था । इसमें उदात्त स्त्रीत्व का चित्रण है ।

राधा में सात्विक एव उदात्त स्त्रीत्व है । सात्विक स्त्रीत्व का चरम रूप जिसमें घृणा, ईर्ष्या, छल आदि कुछ भी नही है । राधा के प्रेम में वासना नही है । वह प्रेम के सात्विक रूप का प्रतीक है । राधा का प्रेम रूप भक्ति का और विश्वास का है । मेनका और मत्स्यगन्धा की भाँति वह किसी के समक्ष आत्म-समर्पण नहीं करती है ।

श्री कृष्ण ईश्वर नहीं, प्रेम सौन्दर्य के प्रतीक है । उनमें ज्ञान और हृदय रस का संघर्ष चलता है । कुछ आलोचकों का कहना है कि श्रीकृष्ण इसमें भगवद् रूप में उपस्थित होते है और उनके इस रूप के कारण ही राधा का प्रेम दब गया है । पर श्रीकृष्ण को इसमें भगवान रूप देखना गलत है ।

नारद भक्ति का अहंकार है । उसमे आत्म-समर्पण है, भगवान के प्रति, स्त्री के समक्ष नही ।

राधा का जो रूप इसमें प्रस्तुत किया गया है वह सात्विक है । आध्यात्मिक होकर भी वह मानवी है । उसमें मत्स्यगन्धा की भाँति यौवन तृप्ति की चाह नही है ।

सृष्टि में जो राग चलता है, जिसमें हर कण बँधा हुआ है उसे देख कर उसके प्रति मोह होते हुए भी राधा का ध्यान, उसके मानस की सभी वृत्तियां उस मुस्कान में केन्द्रित हो गई हैं जो उसने कृष्ण में देखी थीं । वह दृग सम्मोहक रूप—

भूल सब अपना पराया स्मृति विफल का भार लेकर
ढो रही हूँ क्या न जाने, क्या न जाने खो रही हूँ ?

× × ×

एक मृदु मुस्कान उस दिन की समाई प्राण में है
जो हृदय को छील क्षत सी उभरती अनुराग मंडित।

यह सब क्यों हो रहा है, वह यह भी नहीं जानती। विशाखा जब उससे पूछती है कि क्या यह उद्दाम रागमय सुख तुझे प्रिय नहीं लगता तो राधा उसका उत्तर न देकर अपनी बात कहती जाती है—

हा, न मैं वह भूल पाई एक छवि जो दृष्टि में आ
कहीं रागों में समायी विकल प्राणों से बिखर कर
मुझे ही विक्षत किया सखि, मुझे ही पीयूष धन दे।
मैं नदी सी बह रही थी स्वयं अपने बाहु के ही
दो बनाकर दो किनारे। मग्न थी अपने हृदय में
मग्न थी बहती चली ही आ रही अनजान पथ से
कुछ न लेकर कुछ न पाकर, एक केवल आस थी यह
अन्य जन सी भव उदधि से पार होऊँगी कभी हँस
कभी रोकर भी विता दूँगी विशाखा विरह सा यह
दीर्घ जीवन महापथ परिचित न होकर भी किसी से!

विशाखा—तो हुआ क्या ?

राधा—

क्या हुआ, मैं मग्न थी अपनी लहर में
पर न जाने दृष्टि पथ में आ गये वे क्या कहूँ री!

और इनका राधा ने जो परिचय दिया, उसे सुनकर विशाखा कह उठी कि यह तो तुम कृष्ण के विषय में कह रही हो, क्या तुम्हारे पिता कृष्ण के प्रति तुम्हारा यह अनुराग करना सह लेंगे ? वह कंस के सामन्त हैं। साथ ही वह अपने कुल की मर्यादा को किसी तरह कलंकित होते न देखना चाहेंगे। राधा सब सुनती है और स्पष्ट कह देती है—

जानती हूँ सखी यह सब वश नहीं है किन्तु मेरा।

(विवश होकर)—

क्या कहूँ, कैसे कहूँ, सब कुछ हुआ विपरीत जीवन
कूप पर जाती कलश ले नीर लेने हेतु जब मैं
पैर ले जाते मुझे अनजान में यमुना नदी तट
क्या तुझे कुछ भी न होता, यह मुझे क्या हो गया है ?

राधा के प्रश्न ने नारी हृदय के कोमलतम तन्तु को छू दिया विशाखा खुल पड़ी—

हाय, कितना सरल, कोमल, तरल है नारी हृदय यह
दूध सा मीठा, धवल, निश्छल बनाया कौन विधि ने ?

जो सौन्दर्य और प्रेम पाकर गल गल कर स्वयं पिघल जाता है और प्रिय विधु को देखकर कुमुद सा स्वयं खिल जाता है, वह फिर जग के नियम बंधन कुछ भी नहीं देखता।

फिर तो दोनों अपनी व्यथा कह उठती हैं—राधा के लिए तो केवल—

सभी अन्तर में वही छवि, सभी प्राणों में वही स्वर
सभी प्राणों में वही धुन, सभी गीतों में वही लय।

× × ×

और—

देखती हूँ सभी के धन, शक्तियाँ, मर्यादा, सीमा,
अवधि सारी तोड़ डाली इस अलौकिक व्यक्ति ने आ।

विशाखा के लिए—

गूँजती है कान में ध्वनि, प्रतिक्षण वह रूप वह छवि
नेत्र में, सब खो गया है, हो गया है कृष्णमय जग।

विशाखा ने बताया कि वह किस तरह घर कृष्ण के कारण पिटी, क्या यातना झेली, फिर भी कृष्ण को देखने उनके घर चली गई। उनके वर्णन से राधा में दर्शन-लालसा भी जागृत होती है। विशाखा के रहने पर

कि उसके लिए विषम मार्ग पर चलना होगा। राधा कहती है—

यही बस, मैं लाज तज, मर्याद बंधन तोड़ कुल जग
त्याग सब कुछ, बन वियोगिनि मुक्त जीवन हो सकूँ री।

न कोई मेरा पति'' न मैं किसी की नारी। मुझे किसी का बन्धन प्रिय नहीं। दम्पति के धर्म का पालन मैं नहीं कर पा रही हूँ। अब तो—

हाँ चलो। यह हृदय का द्रव बह चले उस ओर, उस पथ
जहाँ जीवन गर्त्त में तैरा करे, डूबा करे री।

कृष्ण का सम्मोहक रूप देखकर आसक्ति होने में राधा में नारी का साधारण रूप है पर वास्तविक स्त्रीत्व आगे चलकर निखरता है।सात्विक प्रेम प्रकट होकर उदात्त स्त्रीत्व में परिणत होता है।

कृष्ण के असाधारण सम्मोहक रूप के प्रति आकर्षित राधा कृष्ण की वंशी सुनकर जब वहाँ पहुँचती और सुनती है तो कानों के रस आस्वादन के बाद पूछती है—

कौन तुम अनुराग सागर कौन तुम मन्थन हृदय के?
अरे बोलो, प्राण बोलो, तान ऐसी छोड़ दी क्यों,
सभी जृम्भित गात मेरा सभी कम्पित विश्व कानन
अंग रोमांचित हुए हैं, रोम है उद्बुद्ध चेतन।

कृष्ण सरल भाव से कहते हैं—

विश्व कण कण में सुवासित व्याप्त है पीयूष सरिता
जो हुई प्रच्छन्न नर की कालिमा से छल कपट से
उसी को जागृत किया है, प्राण ने वंशी लहर से।
.......................अक्षय मधुर रस प्राण पावन
मैं लहर हूँ एक उसकी उसी सुख की उसी स्वर की।

इस पर राधा पूछती है—परन्तु यह रह रहकर हमारे हृदय क्यों मथती है, और आपकी छवि हमें अग्राह्य पथ का पथिक बनाती है। क्या तुम ब्रजांगनाओं को मीठी वेणु बजाकर लुभाते नहीं हो और अनजान

ललनाओं को जो हेय अहेय को नहीं जानतीं, उन्हें खींच नहीं लाते हो ? कृष्ण कहते हैं—पर इसमें मेरा दोष क्या ? राधा कहती है यह तो वैसा ही हुआ कि वन में चारों ओर दावाग्नि लगाकर बीच में छोड़कर उससे कहना कि तुम यहां क्यों आ गये। कृष्ण कहते हैं कि यदि नदी बह रही हो और कोई उसमें उभरने की साध लेकर बीच में कूद पड़े तो इसमें नदी का अपराध क्या है ?

अब राधा स्पष्ट कहने लगती है—

कौन नारी ऐसी है जिसमे पिपासा धधक रही है, वह तुम्हारी हृदयाकर्षक वेणु ध्वनि सुनकर तथा तुम्हारी भुवनमोहिनी छवि देखकर मोहित न हो जाएगी और कुलकान लोकलाज न तज देगी।

कृष्ण यह सुनकर प्रेम के वासना रूप का खण्डन करते हैं और कहते हैं कि हरित पर्वत माला, पूर्ण कलाधर, अतल सागर, उफनती सरिता, निर्झर, उषा, सांध्य लाली, धवल रजनी आदि प्रकृति के उपकरण विषय वाहक ही है क्या इनका और कोई उपयोग नहीं ?

राधा पूछ उठती है—

प्रेम क्या यह नहीं, कहता जगत जिसको हृदय तर्पण
मन समर्पण, तन विसर्जन, प्राण प्रिय के चरण में गिर।

और कृष्ण बताते हैं—

प्रेम आकर्षण तथा आनन्द आत्मा की अलंकृति
उसे तन का दास बनने नहीं देना शुद्ध, सुन्दरि।

राधा पूछती है कि क्या यह सम्भव है ? कृष्ण कहते हैं कि मानव जो कुछ करना चाहे, कर सकता है उसके लिए असम्भव कुछ नहीं है। राधा इन गहराइयों में न जाकर अपने हृदय की हलचल बताती है कि प्राण में एक आग सुलग रही है, एक जलन मची है, मानो अग्नि-मदिरा पीली हो। प्राण के संगीत गायक, मैं और कुछ तो नही जानती, इतना जानती हूं कि मचलने वाला मन है और उसमें सहस्रों मनोरथ स्वप्न का संसार रचकर कुछ गा रहे हैं जिन्हें समझ सकना दुर्लभ है।

मैं तो केवल यही चाहती हूँ—

एक तुम हो, एक वंशी, मैं सुनूं, सुनती रहूँ, निशि,

दिवस, पल पल, पक्ष, ऋतु ऋतु, वर्ष युग कल्पान्त तक भी।

यहाँ यह जो प्रेम और हृदय का संघर्ष है, वह सात्विकता का संघर्ष है।

सत्य कहना हे कन्हैया, तुम न साधारण मनुज हो

इन्द्र के अवतार हो या वाम काम प्रपञ्च हो प्रिय ?

× × ×

काम से सुन्दर कला के पूर्ण, अशिथिल सृजन, चित्रण

प्राण से अतिसूक्ष्म संचालन प्रचालन कर्म से गुरु

गहन गाथा हे अनिर्वचनीय माधव, ब्रह्म जग के!

राधा कृष्ण को समाज-सुधारक के रूप में नहीं वंशीधर मनमोहन के रूप में देखना चाहती है, वह कहती है—

फिर सुनाओ वही वंशी तान गायक, फिर सुनाओ

× × ×

मैं सुनूं सर्वांग से, सब कामना से, चेतना से।

× × ×

लहर सा लहरा उठे थिर थिर थिरकता जगत सागर

कृष्ण वंशी बजाते हैं। राधा मुग्ध होकर सुनती रहती है। वंशी सुनकर सभी सखियाँ आ जाती हैं। वंशी के साथ ताल देकर वह नाचने लगती है। नाच और वंशी वादन के बाद राधा आत्म विस्मृत हो जाती है। आनन्दातिरेक से कहती है—

उसी ध्वनि से, उसी स्वर से, उसी लय से, मूर्च्छना से

मैं सभी भूली कहाँ हूँ, कौन हूँ, क्या रूप मेरा ?

राधा का दृष्टिकोण है—

हम क्यों न पिएँ छल छल करते जीवन का पारावार सखे,

हम कितने लघु कितना जीवन कितना मीठा संसार सखे!

और कृष्ण का दृष्टिकोण है—

है यही तो शुद्ध सात्विक सरस रस जीवन मही पर
हो न उसमें यदि कहीं भी लेश मानव-वासना का।

राधा चाहती है कि कृष्ण का रूप शुद्ध प्रेमी का हो पर कृष्ण विवेकी पुरुष है, वह समर्पण नहीं करते राधा कृष्ण को दूसरे रूप में देखती है। राधा जब कहती है कि—

'...विष भी पी सकेंगी, मर भी सकेंगी पर जी न सकती बिन तुम्हारे'

हे माधव मैं, मैं कुछ नहीं चाहती। मैं जानती भी नहीं कि मैं क्या चाहती हूँ। हाँ, यह अवश्य है कि हृदय में एक तप्त पिपासा उबलती रहती है, प्राण चंचल होता है, पर मुझ में वासना का लेश भी नहीं है, पर न जाने क्या कुछ सदा कोई खुरचता रहता है और मन तुम्हें पा कर सहस्रों शशि किरणों से स्नात सा होकर उत्फुल्ल हो जाता है। और—

कहीं भी कुछ भी न माधव, तुम्हीं केवल तुम्हीं संबल !

राधा पैर पकड़ लेता है। कृष्ण उसे उठाकर अपने मथुरा-गमन की बात सुनाते हैं। राधा पहले आँसू भर लाती है, फिर मूर्छित हो जाती है। कृष्ण विशाखा के सहयोग से उसे सचेत कर अपने मथुरा गमन का उद्देश्य, दुष्ट, प्रजा संहारक कंस को समाप्त करना तथा देश की सेवा करना बताते हैं।

राधा उनका उच्च गौरव देखकर उनके पाँवों पड़ती है और कहती है—

आज जाना है कन्हैया, आपको मैंने निकट से
(घोर कष्ट के साथ) आपकी यात्रा सुफल हो
पाओ सफलता प्रिय, और अपनी क्या ?

इसके बाद राधा केवल प्रेमी राधिका नहीं रह जाती भक्त राधा हो जाती है। तड़पते प्रेम के साथ उदात्त भक्ति भाव का सम्मिश्रण होकर—

फूल सा हँस झड़ चुका है, हृदय का उल्लास मेरा
सतत पतझर से घिरा सा, अमा सा आकाश मेरा
कहीं भी तुम को न पाकर,
आंसुओं में छवि पुलकती,
कौन युग से पथ निरखती।

ऐस ही में अपने भक्ति के अहंकार से आपाद-मस्तक प्लावित नारद आते हैं। राधा के सामने आने से पूर्व वह कहते है—

भूल री, सब भूल राधा, क्यों चली उस ओर उस पथ,
जहां का आधार केवल एक टूटी, भग्न आशा।

यह सुन राधा चकित हो जाती है। चकित क्यों न हो जो उसके जीवन का आधार हो उसे कैसे भूल जाए राधा, वह स्पष्ट कह देती है—

नहीं अब सम्भव नहीं यह।

नारद प्रकट होकर राधा के सामने आते है। नारद को देख राधा प्रणाम करता है। नारद पूछते है कि क्या जीवन का पीयूष गिराना हितकर है, तुम जिसके हेतु यह सब कर रही हो, उसने सुध तक न ली और तुमको छोड़कर चला गया।

राधा सरल स्वभाव से मुनि को धन्यवाद देकर कह देती है कि आपने अनधिकृत को उपदेश दिया। नारद उसकी अवस्था की ओर उसका ध्यान दिलाया चाहते है तो वह कहती है कि हे मुनि, मै अत्यन्त विवश हूँ। मैं क्या हो गई हूँ, यह मुझे कुछ ज्ञात नही। और—

मै बिछा सम्पूर्ण चेतन हृदय की पीड़ा छिपाए
श्वास के पथ पर उन्हें ही खोजती रहती निरन्तर।

इस पर स्त्रियोचित मान को नारद जागृत करते है और बताते है कि कृष्ण किस प्रकार नया घर, नया राज और नए माता-पिता पाकर शेष सभी को भूल गए, वह एक ओर तो राधा का मान जागृत किया चाहते हैं दूसरी ओर कृष्ण की बुराई करके उनकी ओर से विरक्ति उत्पन्न किया चाहते हैं। पर राधा—वह कहती है कि उनकी निष्ठुरता

की बातें जो आपने कही वह सच होंगी, पर मेरे लिए तो यह कोई प्रश्न ही नहीं। मेरे लिए तो—

एक वे ही पूर्व में, पश्चिम तथा उत्तर दिशा में
और दक्षिण में, धरा, पाताल, नभ में एक वे ही।

× × ×

तथा—

मान औ' अपमान तो हैं द्वैत के ही रूप नारद ?

इस पर नारद उपदेश देते हैं कि नारी का जीवन इसलिए नहीं है। कन्यात्व या पत्नीत्व ही नारी रूप नहीं। विश्व में मातृत्व रूप ही उसकी सफलता है। राधा स्पष्टतः कह देती है कि हे महामुनि, मैं नहीं जानती कि नारीत्व का ध्येय क्या है। मैं तो—

घोर रजनी में विगत के भग्न पर सर्वस्व हुति दे
प्राण का आसव चढ़ाए, स्निग्ध स्मृति का दीपवाले
खोजती हूँ, क्या न पाऊँगी, मिलेंगे भी न क्या वे ?

× × ×

वही जीवन दीप नारद, हृदय, आशा, श्वास, भाषा,
पुलक, चिन्तन, कल्पना स्वर, ध्यान, कविता, धर्म, श्रद्धा,
प्रणय वे ही, कृत्य वे ही, साधना के देव वे ही,
सभी कुछ उनमें समाया रोम रोम प्रपंच चेतन !

सात्विक प्रेम की चरम सीमा है। नारद के मर्म छू देने पर आवेश तथा आवेग की अधिकता से वह कह उठती है—

वे यहां हैं, वे वहाँ हैं हृदय में, विश्वास, बल में,
कुसुम कलियों में लता में वृक्ष में सरिता लहर में
गगन में पाताल में, भूधर-धरा जीवन-मरण में ।।

ध्यानस्थ होकर राधा गिर जाती है। नारद एकदम दुखाभूत हो जाते हैं। पर अहंकारी नारद का कृष्ण को सर्वस्व समर्पण करने वाली राधा का रूप देखकर भक्ति का गर्व चूर चूर हो जाता है। वह कहते हैं—

महामुनि, ज्ञानी, अमानी, भक्त, योगी, सभी देखे,
जगत देखा, बहुत देखा, नहीं ऐसा व्यक्ति देखा
यह अभी तक मानता था एक निश्छल भक्ति अपनी,
किन्तु जाना सूर्य राधा और मैं खद्योत नारद।
चला था, पथ से हटाने, परीक्षा लेने कुमति मैं,
किन्तु मैंने विश्व-वंद्या आज राधा रूप देखा।

यह वह नारद खडताल और तम्बूरे पर गाते हैं राधा सचेत होने पर नारद के गीत की अन्तिम कड़ियाँ सुनती है जो उसे प्रिय लगती हैं। वह दुहराती है।

सात्विक और सच्चे प्रेम में प्रतिदान तो होता ही नहीं। सच्चे प्रेम में अपना अस्तित्व शून्य के समान और केवल प्रिय रह जाता है। वह कहती है—

चाहिए मुझको न कुछ भी प्रेम का प्रतिदान उनके।
वे महान् विभूति, मैं लघु, वे सरित, मैं लहर उनकी।

× × ×

वे गगन, मैं तारिका हूँ, वे उदधि, तूफान मैं हूँ!
वे जगत उद्धारकर्त्ता, मैं चरणरज एक कणिका,
मैं न कुछ भी चाहती हूँ, चाहती हूँ यही केवल
मूर्ति उनकी हृदय में रख, प्राण को आकण्ठ पीड़ा
छलकती पीती रहूँ पीती रहूँ युग युग प्रलय तक
है न कोई और मुझको कामना इस कामना से।

राधा इस तरह बोलती बोलती मूक हो जाती है। कभी आँख खोल कर इधर उधर देखती है और कहीं भी कुछ न पाकर जैसे सारे हृदय की पीड़ा साकार हो उठी है, और वह—

ओ रे हृदय विरह की पीड़ा सहता चल सहता चल,
प्रिय की स्मृति सरिता में अनथक बहता चल, बहता चल।

गाती है। इस प्रकार विविध रूपों और विविध ध्वनियों से अतीत, वर्तमान

और भविष्यत् को अपने में छाया हुआ पाती है। उसका यह रूप तन्मयता एवं कृष्ण की छवि का रूप है जो अपनी पीड़ा में भी वह देख पाती है।

रोम रोम की पीड़ा में भी वही रूप वह छवि झाँकी
भीतर बाहर वही दीखता, वही दीखता एकाकी।

कह कर सब जगह अपने प्रियतम को ही देखती है। और अन्त में जैसे सारा संसार उसके लिए कृष्ण मय हो गया है। दिन भी अमावस की रात की तरह काले हो गए हैं। प्रातःकाल, दोपहर, संध्या, कुंज, फल फूल और यमुना की धारा भी उसे कृष्णमय दिखाई देती है। जैसे सब कृष्ण में डूब गया है और उसी में वह तन्मय हो जाती है। यही राधा की तादात्म्य अवस्था है। इस तादात्म्य में ही जैसे उसकी मुक्ति है। नारद कहते हैं,

विश्व की अभिवन्द्य प्रतिमे, प्राण से, कृति से, सुकृति से,
कर्म से, फल प्राप्ति से, आलोक से छायानुगति सी,
ब्रह्म से मायानुरति सी, बद्ध हो तुम कृष्ण से सखि!
कृष्ण के संग ही तुम्हारा नाम होगा, धाम होगा
प्राण होगा, कर्म होगा, विभव होगा, कामना सी।
राधिके, उनके हृदय की श्वास, भाषा, कल्पना तुम।
कृष्ण राधा मय हुआ है। आज राधा कृष्ण मय है।

राधा का यह रूप सायुज्य का है, वह अपने को भूल गई है, उसके लिए सब कुछ कृष्णमय है, उसका अस्तित्व भी जैसे कृष्णमय हो गया है।

ये तीनों नाटक एक तरह से विपुल भाव प्रधान नाटक है। कहना नहीं होगा कि जहाँ ये अपनी शैली, वस्तु वर्णन, और प्राजंल भाषा के कारण अभिनेय है वहाँ इनमें पात्रों का उदात्त चरित्र एवं भाव विह्वलता का रूप भी पूरी तरह परिलक्षित हुआ है

मैसर्स आत्माराम एण्ड संस के सुयोग्य संचालक श्री रामलाल पुरी भी विशेष धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन मे विशेष रुचि ली और इसे पाठकों के सामने फिर से प्रस्तुत किया।

—नाटककार

★

विश्वामित्र

पात्र

विश्वामित्र	:	मानव के दम्भ का प्रतीक
उर्वशी	:	मानव के प्रति स्त्री की विवश उपेक्षा
मेनका	:	सौन्दर्य, स्त्रीत्व और मातृत्व की प्रतिमा

(१)

समय : सायंकाल

[हिमालय की तलहटी में देवदारु के वृक्ष के नीचे हिमासन पर विश्वामित्र तप कर रहे है। नाभि के नीचे तक लटकती दाढ़ी, बिखरी हुई जटाएँ, अंग में एकमात्र कौपीन, प्रदीप्त और उग्र मुखमण्डल। समाधि अभी खुल रही है। देखते हैं चराचर विश्व स्थिर है, केवल फुहार की तरह बर्फ झड़ रही है। दृष्टि तीव्र होते ही बर्फ गिरना बन्द हो जाती है। फिर मुसकराते हैं, बर्फ गिरने लगती है। देखते-ही-देखते सम्पूर्ण शरीर हिम-पट से ढक जाता है। केवल दोनों नेत्र शरदाकाश में निकले दो सूर्य की तरह जल रहे हैं। धीरे-धीरे स्पष्ट ध्वनि में—]

मेरे तप का तेज तीव्रतर बढ रहा
रविमण्डल को भेद ब्रह्म के शीर्ष तक,
फैला है आतंक जगत परमाणु में।
मिटा रहा हूँ सतत लिखावट भाग्य की।
जन्म-जन्म के संस्कार धुल-से गये
विधि-विधान पर फिरी स्याहियाँ आज हैं।
पूर्ण हुआ है मेरा यह तप कठिनतम।
बुझ सकते रवि मेरे भृकुटि-निपात से
फट सकता ब्रह्माण्ड एक संकेत पा।
देववृन्द इन्द्रादिक की तो क्या कथा
ब्रह्मा पा संकेत सृष्टि रच दें अभी।
और स्वयं मैं भी तो···मैं क्या हीन हूँ ?

चाहूँ तो संसार चरण पर आ गिरे।
और नये संसार बनें, नव काल हो,
नव रवि, नव शशि, खिलें फूल, दल, तारिका।
नव मानव, नव प्राण चाहते ही. सकल।
रच दूँ अपर विराट् ब्रह्म को मैं स्वयम्।
रच दूँ हरि, हर और विधाता इन्द्र भी,
रच दूँ अभिनव स्वर्ग, नरक, पाताल, नभ;
रच दूँ मैं गन्धर्व, यक्ष, किन्नर सभी,
रच दूँ लीला हास किरण से तुरत ही
अरे, असंख्यों सुन्दर देवी, मानवी ?
कौन शक्ति, अथ कौन चाह दुर्लभ मुझे;
नहीं मुझे अब कुछ भी है अज्ञेय जग
ज्ञेय तथा अति गूढ गिरा अभिसार-सा।

[कुछ सोचकर]

नहीं, अभी मैं फिर समाधि लूँगा गहन
जिससे हो यह विश्व वश्य मेरे सतत।

[समाधि में लीन हो जाते हैं, उर्वशी और मेनका नाम की दो अप्सराओं का प्रवेश।]

उर्वशी—

अरी मेनके, इस सुन्दरतर विश्व में
जीवन-नौका मृदुल हृदय की आस-सी,
घन-तड़िता-सी शनै-शनै अथ क्षिप्रतर
बहती भृकुटि-कटाक्ष-दण्ड ले काम का।

गाता कोई नहीं आज क्यों शून्य में।
भर देता क्यों नहीं जगत को राग से।
प्राणों में फिर एक वार अविराम मृदु।
सौन्दर्य का एक अनुर्वर गीत री ?
ताक रही हूँ इधर-उधर पाती न कुछ।
कोई भी आधार मुझे मिलता नहीं।
नभ का नीला हास, हरापन भूमि का।
लेकर आशा जाल तानते जालियाँ।
एक सूत्र में पिरो रहे उद्भ्रान्त हो।
मन्द-मन्द उल्लास नाचता है अधर,
छवि के कोने तोड़-तोड़कर कौन यह
बाँट रहा है महा-विश्व में आज यों ?
मेरी आशा वीथि किन्तु फिर शून्य क्यों
और प्रस्फुटित अंग-अंग सौन्दर्य के ?
दूर-दूर यह कौन निभृत, विस्मृत अथ च
भंग पद-क्रम नूपुर का वजता चला
यौवन मद श्लथ मन-मन्दिर में कौन यह
क्यों मुझसे ले प्यास छीन पीता सतत।
देख रही निःश्वास छोड़कर विश्व को
किन्तु नहीं पाती हूँ कुछ भी आज तो।
मेरे वंचित हृदय-कोण में दीप यह
निर्निमेप जलता ही रहता एक गति।
मै पल-पल में लीन हो रही, दे रही
और ले रही कुछ अभिनव प्राचीन भी।

सुन्दरता के कतर पंख यह कौन है
फेंक रहा जो अन्धकार के कूप में ?

मेनका—

यह सब कुछ भी नहीं, जानती मैं यही
हृदय, प्रेम, आनन्द हमारी सृष्टि है।
क्षण-क्षण निर्मित होता है अनुराग यह
और व्याघ्र-सा काल लीलता है जगत।
हम अभिनव की एक मनोरम रागिनी
जिसमें स्वर माधुर्य उठ रहा है सतत
मंजु मूर्छना और ताल आरोह से
होता है उन्मत्त हृदय जड़ विश्व का।
नव कलिका का मधुर रूप पीकर सतत
झूम रहा क्या नहीं पवन उद्भ्रान्त-सा ?
किसलय पर उन्मुक्त - बिन्दु नीहार का
नाच रहा क्या नहीं हिलोरें भर हृदय ?
यह वासन्ती सुरभि नचाकर वल्लरी
पंखुड़ियों के स्फीत हृदय को खोलती
भर देती आनन्द उदधि से जगत के
रोम-रोम में प्राणों का मद ढालकर।
रवि को देख, सहर्ष साँझ की रक्ततम
पुलकित फुल्ल कपोल-पालि को चूमकर
मद बेसुध-सा हुआ जा रहा है सखी,
अपने ही को भूल-भूल गुम साथ मे।
[विश्वामित्र की ओर देखकर]

यह क्या, यह क्या, उठा हुआ हिम-पुंज-सा
जीवित, मृत या नराकार कैसा सखी ?

उर्वशी—

होगा कोई अरी, हमें क्या, आ चलें
अपने ही से मिलता कब अवकाश है।
हम तो यौवन की हिलोर ले मोद-सी
सौन्दर्य के उदधि नाव हैं खे रहीं।

[दोनों पास जाकर]

मेनका—

ज्योति-पुंज यह लीन तपोनिधि कौन है,
जीवित मृत्यु समान शून्य निस्पन्द गति,
पृथ्वी पर आच्छन्न भस्म से ज्योति-सा,
अवगुण्ठित-सा हिम-रज का परिधान ले ?
मैं सुनती थी यहाँ घोर तप कर रहा
कोई लिए समाधि एक चिरकाल से !

उर्वशी—

हाँ, हाँ, आया याद कह रहे इन्द्र थे
करते विश्वामित्र घोर तप विपिन में।
लोक-विजय के लिए साध ले हृदय में।
यह भी कोई काम भला, तू ही बता,
जीवन का आमोद सौख्य सब छोड़कर।

मेनका—

आशाओं का अन्त नहीं है सखि यहाँ
सागर से भी बड़ी, भूधरों के शिखर—

से भी ऊँची, रवि से अतितर तीक्ष्ण है।
इस आशा में वहा जा रहा विश्व है।
भुज-वल, पशु-वल और आत्म-वल ले महान्
यह नर करना चाह रहा है विजय जग।
किन्तु जानता कौन भावना का उदय
कब आकर कर डाले मानव को पतित।

उर्वशी—

मैं करती हूँ घृणा मनुज से इसलिए
जग का साधन हमें बना सुख ले रहा।
क्यों न आज तक कभी 'इन्द्र' नारी हुआ
है उसमें किस भाव और वल की कमी ?
क्यों न विष्णु की जगह रमा उल्लेख्य हो
क्या सावित्री में न रहा वल है कभी ?
किन्तु नहीं, नर अपनी गुरुता के लिए
सब पर शासन करने की धुन में लगा।

मेनका—

क्या सचमुच हम नर की समता कर सकीं ?

उर्वशी—

यह जड़ विश्वामित्र अधिक वलवान बन
क्या न नचावेगा हमको यदि इन्द्र हो ?
तब हम इसका पाते ही संकेत-वल—
गायेंगी, नाचेंगी अर्पित कर स्वतन।
जब नारी, नर दोनों ही से सृष्टि है,
एक वड़ा, छोटा हो क्योंकर दूसरा !

मेनका—

यद्यपि हमको नहीं भुजा का बल मिला
तो भी तो बलबुद्धि हृदय-बल पास है।
जो मानव को दुर्लभ दुर्लभतर अथ च
और प्रेम-बल आद्य शक्ति ने है दिया।
सौन्दर्य औ' बुद्धि हमारे अस्त्र हैं
जिनके वश त्रैलोक्य नाचता है सखी,
यदि चाहूँ तो अभी तपस्वी को उठा
नाच नचाऊँ जड़ पुतलीकर काम की।

उर्वशी—

यह सम्भव है नहीं, असम्भव है सखी,
वश करना इस क्रूर मनुज को है कठिन।
यह कच्ची मिट्टी है चाहो लो बना
किन्तु अन्त इसका पत्थर से भी कड़ा;
यह लोहा है जो न पिघलता सहज ही
और सहज ही फिर होता है अति कठिन !

मेनका—

अरी, 'अहं' ही इसकी कच्ची नींव है,
और स्वार्थ के सोपानों पर चढ़ रहा।
जिस पर है कंकाल मनुजता का खड़ा
गिर जाता है एक ठेस खाकर वहीं।
आज नचाऊँ क्षुद्रजीव को नाच मैं
और दिखा दूँ नर में क्या कमजोरियाँ।

उर्वशी—

क्यों श्रम यह फलहीन कर रही है सखी !
तेरे वश का नहीं समाधि-त्याग तक !

मेनका—

मुझे नहीं इससे है कोई द्वेष सखि,
और असंख्यों तापस करते तप यहाँ।
किन्तु मेनका केवल इस ऋषि को यहीं
वश कर दिखला देगी, नारी कौन है !

उर्वशी—

नारी प्राण-विहीन चेतना से रहित
एक भावना-पुंज, पराई आस है।
जो साधन है जग में मानव सौख्य की
सुखहीना है स्वयं, अपर का सुख सदा।
वह विलास स्वच्छन्द पुरुष के प्राण की
मदिरा, जिसको स्वयं नशा होता नहीं।
औरों के ही लिए हृदय है, बुद्धि है,
मन है, प्राण, शरीर, कर्म है, धर्म है।
है समग्र यह शिथिल विश्व का रूप री,
और विधाता के प्रमाद का फल यही।

मेनका—

नहीं, नहीं, यह कैसे कहती हो सखी,
वह सत्ता है कोमल जग के तत्त्व की
और कल्पना सहज विधाता हृदय की,
रुचिर सहचरी रूप-सुधा का प्राण है।

मानव के नैराश्य-पुंज में दीप की
ज्योति शिखा है, नारी, नर की चाहना।
यदि इस जग में नर है बुद्धि शरीर-बल,
नारी कोमल हृदय तन्तु की स्फुरणा।
यह मद का कादम्ब, प्रेरणा विश्व की
कान्ति, ज्योति सौरभ की सुन्दर मूर्ति है।
आज उन्हीं कुछ शक्ति-कणों को ले हृदय
नारी भृकुटि विलास लास्य करने चला।

उर्वशी—

जीवन का सब प्रेम आज देकर तुझे
कण - कण का आह्लाद नाचने-सा चला।
यदि नर का हो सतत पराभव भृकुटि से
रोम-रोम की जलन सुधा सरिता बने।

मेनका—

मैं न घृणा करती हूँ नर से हे सखी,
वह तो मेरे रूप हृदय की प्यास है।
जिससे जीवन तत्त्व वह रहा है सुखद
और हृदय की सीमाओं को छू रहा।
मुझे प्रेरणा करता है कोई यही…

उर्वशी—

श्वास साधकर देखेगी नारी यही,
प्रतिबिम्बित होता है कैसे नर हृदय
प्रतिचित्रित होती है कैसे भावना
प्रतिलक्षित होती है नर में नारियाँ ?

[उर्वशी का प्रस्थान]

मेनका—(वसंत का आह्वान करती हुई)

ओ, नारी के उज्वल प्रेम विभोर जग।
ओ, मंजुल पंखुड़ियों के मृदु हास मधु।
ओ, पृथ्वी की श्यामलता औन्नत्य हे,
भूधर की अति दृप्ति, चंद्र के हास ओ,
रजनी के उन्माद, तारिका के नवल
मन्द-मन्द आलोक बुलाती हूँ तुम्हें,
ओ सुमनों के मकरन्दों से स्नात हे,
वासन्ती के अमर अचल, अंचल, अखिल,
आओ मेरे मूर्त श्वास में बस चलो।
आओ, शरदाकाश धवलिमा धूत जग,
आओ यौवन-गर्व दर्प कंदर्प हे,
उठो, उठो भर दो वसुधा में सूक्ष्म-सी
और स्थूल-सी, मृदु-सी, लघु-सी, महत्-सी,
यौवन के सौंदर्य उदधि की मधुरिमा।
आओ, मेरा भ्रू विलास मुसका रहा
नारी का मृदु गर्व सरित की लहर-सा।

[वसन्त का प्रवेश]

तुम आए हो मादक मेरा विश्व हो
उठ आया हो मानो मीठी साध-सा।

वसन्त—

मैं नारी की एक कामना मूर्त हूँ।
मैं उसकी उल्लास वल्लरी का कुसुम,

मैं उसके प्राणों का अक्षय औ' अचल
तृप्तिहीन आवाहन मुखरित मंत्र हूँ।
तुम हो प्राण, विलास तुम्हारा मैं प्रिये,
तुम हो भृकुटि, कटाक्षपात मैं मधुरतर।

(२)

[मेनका देखती है—वह सम्पूर्ण भूभाग एकदम बदल गया है, आकाश में पूर्ण चन्द्रमा निकल आया है, सम्पूर्ण भूमि हरी-भरी हो गई है। वृक्ष, पौधे, लताएँ लहलहा उठे हैं, फूल हँसने लगे हैं, सुरभि से सारा वन-प्रदेश महक उठा है, दिन और रात का भेद भूलकर भौंरे झुण्ड-के-झुण्ड पुष्पों पर टूटे पड़ते हैं। पृथ्वी अपने वैभव को चूमने के लिए हरी घास के द्वारा रोमाञ्चित हो रही है, चन्द्रमा किरणों द्वारा नीचे की ओर झुका पड़ता है।]

मेनका—

निश्चय, निश्चय यह अनंग का सैन्य-बल
औ' अनंग वह मेरा भृकुटि कटाक्ष है,
वह है भू पर मूक नियति के हास-सा
अस्थिर चंचल एक हृदय की ऊर्मि ही।
जिसके साधन-बल से मैं गर्वित हुई
प्राणों का उपहार चढ़ाती जगत को।
यौवन, विधु की किरणों के उल्लास वन
फूल उठो, वसुधा में भर दो, प्रणय का
अभिनव सागर, मानस में नर के उठो?
भूल जाय जग धर्म, कर्म का मर्म सब
भूल जाय उद्दाम तेज, तप तीव्र भी,

भूल जाय आचार, नीतियाँ, रूढ़ियाँ,
औ' समाधियों में नर के हो एक अति
प्रणयी का अनुराग, राग - सा वह चले।
सागर उफने चन्द्र किरण को देखकर।
तरु वल्लरियों के वितान से लग्न हों
नर नारी के प्राण एक हो गा उठें-
अन्तर का मृदु मंजु - मंजु मंजीर रव
एक - स्वर होकर वसुधा पर वह उठे
प्राण - प्राण में मानव के मद की सरित।

गीत

मैं प्रणय की हूँ पहेली, राग का आरोह आली।
तार गर्जन मन्द्र गर्जन,
दामिनी के हाथ निज धन,
कर रहे अर्पित जलद तन,
नाच देता पवन ताली।

मैं प्रणय की हूँ पहेली, राग का आरोह आली।
चन्द्र की किरणें उतरकर,
चूमती हैं लहर का स्वर,
उड़ रहा है ज्वार सागर,
घूँट में पीने उजाली।

मैं प्रणय की हूँ पहेली, राग का आरोह आली।
एक ध्वनि हो, एक लय हो,
प्राण यह, प्रिय प्राणमय हो,

राग में हँसता प्रणय हो,
थाह फिर किसने न पा ली।
मैं प्रणय की हूँ पहेली, राग का आरोह आली।
सृष्टि सारी उर्वरा हो,
हृदय का भूतल हरा हो,
प्रणय - मद - सागर भरा हो,
भर पिलाऊँ प्यार - प्याली।
मैं प्रणय की हूँ पहेली, राग का आरोह आली।

(३)

[मेनका देखती है, उस भूभाग पर एक तीव्र मादकता छा गई है। इधर पंख फड़फड़ाकर चौकन्ने-से हो उठने वाले हंस की तरह विश्वामित्र के शरीर से हिम-कण हिल-हिलकर पृथ्वी पर गिर रहे हैं। ऋषि एकदम आँख खोल देते हैं। आँखों से पहले विस्मय, फिर क्रोध, फिर वितर्क, फिर आह्लाद और प्रेम का नशा-सा झलकने लगता है। सब ओर देखकर सिहर-से उठते हैं।]

स्पष्ट ध्वनि में—

मेरी मूक समाधि और तप में सजग
होकर भरती कौन राग की उफनती
नव स्वर्गिक संगीत-सुधा अति वेग से ?
[चारों ओर देखकर]
हैं, यह कैसा हुआ मंजु कान्तार है ?
कैसी है उद्दाम पुरानी सुखद - सी
स्मृतियों की अति वेगमयी चल चित्रिका।
कैसा होता आज, घुल रहा है निखिल

मेरे तप का नभ-चुम्बी भूधर इधर
और बहाता जाता सब करके सलिल
एक वेग से किसी मनोरम धार में।

[मेनका की ओर देखते हैं]

अरे, अरे, तुम कौन, मंजु, मृदु, कल्पना,
विधि की, हरि की, सुरपति की, या प्रकृति की,
रति की, रतिपति की, महान् की, सूक्ष्म की,
कौन, कौन, तुम कौन, यहाँ क्या कर रही,
मेरे अन्तर रोम-रोम में लीन हो ?

मेनका—

[अनसुनी करके]

किरण चन्द्र में लहर सरित में खेलती,
कलिका में मृदुहास, पवन में मन्द गति,
हूँ फुहार में, मेघवृष्टि में दामिनी
चमक। चपल यौवन में हूँ मैं उग्र मद।
रति अनंग में, सुन्दरता में रूप हूँ।
रागों में ध्रुव, सुखद भैरवी रागिनी।
लय में हूँ आरोह, प्राण में श्वास हूँ।

[गाती हुई)

आज इस पावन विजन में।
प्राण में उत्क्रान्ति-सी भर कौन गाता मूक मन में।
आज इस पावन विजन में।
सुरभि भीनी माधवी का लिख रही है गीत मन में।
पढ़ रही हैं तारिकाएँ हृदय की गाथा सुमन में।

आज इस पावन विजन में
मूक मारुत दे रहा सन्देश कलियों का भ्रमर को
चूमती हैं चन्द्र लहरें उतर धीरे से अधर को
भिर रहा भर-भर निशा उल्लास यौवन-अलस तन में
आज इस पावन विजन में

विश्वामित्र—

मैं अत्युन्नत भव विवेक आलोक रवि
पोर - पोर में जिसके विश्व विबुद्ध है।
गोलक - सा ब्रह्माण्ड भृकुटि के पात से
निर्मित होता है क्षण-क्षण में श्वास से।
कौन कहाँ से आया जलता दीप लघु
मुझ रवि के सम्मुख सत्ता क्या दीप की ?
कौन कौन री तू नारी, क्या कर रही ?

मेनका—

अरे, अरे, तुम मुझसे ही कुछ कह रहे,
जटा विलासी, मैं न जानती समझती
एक ढेर से मिट्टी के तुम कौन हो ?

विश्वामित्र—(क्रोध से)

क्या तू मुझको नहीं जानती वज्रमति,
मैं हूँ विश्वामित्र, प्रतापी, महामुनि,
मैं चाहूँ तो क्षण में ही नव सृष्टि कर
तुझ जैसी उत्पन्न करूँ शत नारियाँ !
क्या है तुझको कार्य यहाँ क्या कर रही ?

मेनका—

होगे विश्वामित्र, मुझे क्या, सो रहो
चक्षु गोलकों में समाधि का सिंधु भर
और 'अहं' का आस्वादन करते रहो
श्वान - क्षत सम चाट-चाटकर रुधिर निज !
मैं तो मंजुल स्नेह सुरभि सम विहरती
रहती हूँ उद्दीप्त विभा - सी, लहर-सी ।

विश्वामित्र—

हे निर्लज्जे, साहसिके, मंदादरे !
मेरे सम्मुख मेरा ही अपमान तू
करने आई है मशकी-सी तुच्छ मति ?
महत्तपस्वी मैं हूँ युग निर्माणकर,
रच दूँ सारा विश्व अभी क्षण में नया ।
ठहर ठहर, रे आँखों से क्यों खेलती
खेल अनूठे, वाणी के रस के मधुर,
जाने जाने क्या सोता - सा जागता
तुझे देखकर मन में लहरें उठ रहीं ।

मेनका—(तीक्ष्ण कटाक्ष करके)

मैं क्यों तुमको देखूँगी सोचो भला
क्या मुझको है काम नहीं कुछ भी कहीं ?
मैं तो तितली हूँ उड़ती प्रति पुष्प पर
और छमकती, छनन छनन छन नित्य ही

[इसके साथ ही नाचती है]

मैं तो. विद्युत मेघ पुरुष की प्रेयसी
नाच रही हूँ बन्धन-मुक्त प्रमत्त-सी
ताक रहे हो मुझे फाड़कर आँख क्यों
ताक रहे हो मेरे अंग अनंग क्यों ?
यह क्या, यह क्या अरे छू गई बिजलियाँ,
रंग बदलते गिरगिट-सा क्यों जा रहे ?
क्या मेरी आँखों में झरता गरल है
या कि सुधा जिससे मरकर तुम जी रहे ?
मेरे चख पीयूष छलकते क्या तुम्हें
करते हैं आकृष्ट, हो रहे मुग्ध क्यों ?

विश्वामित्र—

नहीं, नहीं, मैं स्वयं ब्रह्म ज्ञानी स्वयं
होता मुझको कभी न कोई वेग है।
[मेनका नाचती-नाचती दूर चली जाती है]
चलूं चलूं मैं फिर समाधि लूँ मग्न हो
और विभव को मुट्ठी में कर लूँ सतत
जीवन के कटु रूप, प्रणय, सौन्दर्य को
दास बना लूँगा आजीवन के लिए
मैं प्रवाह हूँ महाप्रलय का प्रखरतर
जिसे रोकना नहीं किसी को शक्य है।
किन्तु देख पड़ता है कैसा विश्व यह
कैसा उज्ज्वल भाग जगत का यह अहो !
समझा, कैसा यह प्रकाश सुन्दर, सुखद
प्राणों को अभिषिक्त कर रहा जो सतत

अरे, भूलता रहा, प्रेम ही प्राण है।
प्रेम हृदय का उर्वर सृष्टि-विलास है।
भूल गया हूँ मैं भी था तापस कभी
तापस, नीरस जीवन की लघु प्रेरणा
जिसमें ईश्वर नहीं, 'अहं' का वास है
स्वयं 'ब्रह्म' होने की मीठी कामना।
तुम भी तो हाँ, स्वयं ब्रह्म आनन्द हो
जाग्रत अथ प्रत्यक्ष कल्पतरु विश्व को।
आज बदल है गया सभी जो लक्ष्य था
प्रेमानंद प्रवाह पुलक में मग्न हूँ।
सुनो, तुम्हीं हो रोम-रोम की कामना
रोमांचित प्राणों की संचित साध-सी
मेरे तप से, जप, समाधि से ध्यान से
सुन्दर यह मुस्कान तुम्हारी दीखती.
कई सृष्टियाँ, कई योग, तप वार दूँ।
यह समस्त संसार तुम्हारी चरण-रज।

[मेनका की ओर बढ़कर और फिर ठहरकर]

हा, कितना अपलाप तपस्वी-वृन्द का
विष्णु रमा के साथ, विधाता खेलते-
सावित्री के साथ, सदा हर-पार्वती
रहते हैं संलिप्त भोग-वैभव-निरत,
जलचर, थलचर, खेचर भी अतितृप्त हैं
अपने ही जीवन में खोये-से सदा।
नर-नारी ही प्रकृति-ब्रह्म है वस्तुतः।

किन्तु न-जाने क्यों तापस संसार यह
भूल रहा प्रत्यक्ष सुखों को त्यागकर।
तप की कैंचुल त्याग हृदय है उफनता
प्रिये, तुम्हारे विश्व मूर्त को चूमने।

[मेनका प्रकट हो जाती है, ऋषि आलिंगन को बढ़ते हैं]

मेनका—

हे मुनि, यह क्या, अरे, तुम्हें क्या हो गया
तुम प्रबुद्ध, ब्रह्मज्ञ, महामुनि भूलते ?

विश्वामित्र—

क्या सचमुच ही, नहीं नहीं यह भूल है
सब प्रपंच 'अध्यात्म', एक तुम सत्य हो।
यह सौन्दर्य समग्र सृष्टि का मूल है।
तप का फल भी स्वर्ग-प्राप्ति ही है सुखद।
स्वर्ग, स्वर्ग क्या सौन्दर्य से, प्रेम से,
हृदय-साध का लय हो जाना प्राण में।

मेनका—

किन्तु, नहीं है स्थायी मुनिवर कुछ यहाँ
यह दो दिन का स्वर्ग—

विश्वामित्र—

(कुछ सोचकर) स्वर्ग क्या झूठ है ?
क्या न सुखों का अपने में अस्तित्व है ?
'कुछ भी स्थायी नहीं' कह रहा भ्रान्त जग
नश्वर इस जग में है स्थायी कुछ नहीं।

तप का क्या अस्तित्व स्वर्ग का भी नहीं
जिसके हेतु समग्र पुण्य करता जगत।
आज समझ पाया हूँ मैं तो सार क्या
मुझ तृषार्त्त का भर दो निज मद से हृदय
पीऊँ शत शत जीवन यह सौन्दर्य-मधु।

मेनका—

मैं सुमनों की हृदय-कहानी सुन रही,
मैं कलिका के होठों पर मधु छिड़कती
प्रात वात के उष्ण श्वास पीकर मदिर
अपने ही में भूल रही वेसुध वनी।
मुझे न नर से कोई भी कुछ काम है।
जाओ, हम तुम दोनों ही अति दूर हैं
जाओ, जाओ, मैं कुछ सुन पाती नहीं।

[गाती हुई]

ताल भूली रागिनी हूँ साज मेरा शिथिल-सा, री।

मन्द मारुत मलय मद ले निशा का मुख चूमता है
साथ पहलू में छिपाये चन्द्र मद में झूमता है
कुसुम चपकों में किरण रस भर धरा मद पी रही है
उड़ रहा जग श्वास के रथ, आस आँसू-सी रही है
कमल के मकरन्द में पीता भ्रमर मधु-कल्पना, री

ताल भूली रागिनी हूँ साज मेरा शिथिल-सा, री।

हृदय-जग के क्षितिज लाली में नहाकर उड़ गये नभ
औ' जला चिर साध अपनी तारिकाएँ बन गये सब
छू रहीं वे दूर से ही आज मेरी धड़कनों को
किसलयों के चपल नर्तन पर थिरकते अलिगणों को
विश्व के उल्लास में क्या है न मेरी ही खुमारी,

ताल भूली रागिनी हूँ साज मेरा शिथिल-सा, री।
[एकदम अन्तर्धान हो जाती है]

(४)

[कामातुर, विरहाग्नि से दग्ध ऋषि उन्मत्त की तरह खड़े हैं]

विश्वामित्र—(बेचैन होकर)

अरे, प्राण की निखिल ज्योति कम्पित हुई
रोम-रोम में विस्मृति की लहरें उठीं
स्मृतियों पर चित्रित करतीं-सी राग को
घोर नशे-सी झूम रही हो नेत्र में
अरे, अग्नि-सी सुलगाकर इस देह में
कहाँ गई ओ काम-भृकुटि-चल-भंगिमे !
प्राण, हृदय, बल सभी खींचकर देह का
मूर्च्छित को मृत, मृत को करने भस्म-सा।
तीव्र महामद विश्व-पात्र से झर रहा।
चली गई विस्मृति, अतीत सी, त्याग सी,
पल सी, घटिका, दिवस, रात सी, वर्ष सी,
युगा सी, जीवन सी, बेला सी, प्रगति सी,
हृत्कम्पन सी, श्वास-श्वास सी, आस सी,

मूक रुदन के लिए अकेला छोड़कर।
ढूंढूं-ढूंढूं, अरे प्राण को, हृदय को,
धड़कन को, जीवन को, संचित साध को,
नभ में, नभ के छोर पिण्ड ब्रह्माण्ड में!
भूला, सुमनों के स्मय चर का रूप धर
शुभ्र चन्द्रिका से मिलकर अति वेग से
हिम कण के उल्लसित गर्व पर उड़ रहे
तुम्हें खोजने विरह वह्नि की ज्योति ले।
आओ, मेरे हृदय-कुण्ड में हे प्रिये,
विरह वह्नि के नभचुम्बी शृंगार में
निज-करुणा की आहुति डालो, डाल दो
मुख मेघों से त्वरित पाट दो प्राण मम।

[घूमकर]

देख रहे है, देख रहे हैं प्राण शत
शत नेत्रों से मंजु मनोरम मूर्ति तव;
तरु में, किसलय में, सुपुष्प मकरन्द में,
अलि-गुंजन में, पवन प्रसर में, ओस में,
धवल चन्द में, तारक-दल के हास में,
मानव की उल्लास राशि में, प्रणय में,
स्वर में, लय में, राग-राग आरोह में,
अवरोहों में और मूर्च्छना में निखिल
तुम्हें, तुम्हें ही, एक तुम्हें अभिसारिके;

[पागल-से होकर]

तुम यह, तुम वह, यहाँ, इधर ही तो खड़ीं,
उधर चलूँ क्या, नहीं शिखर पर हँस रहीं,

और गा रही गीत सुनाई पड़ रहा
नहीं, नहीं, तुम वहाँ नहीं, तुम हो कहाँ ?
बोलो, बोलो, हृदय कम्प, बोलो तनिक,
ओ प्रकाश, इस नेत्र तारिका की मधुर,

[आँखें बन्द करके बैठ जाते हैं]

बाहर हो तुम नहीं हृदय में छिप रही
आँखों में ही झूम रहो हो ; क्यों प्रिये ?
किन्तु आँख में छिपी हुई को पकड़ लूँ
दिये नहीं कर हाय, विधाता ने मुझे ?
थिरको, नाचो, श्वासों के कंकाल पर
तुम्हें पा गया, आहा यह तापस प्रिये ?
तापस छिः मैं नहीं, रसिक हूँ, रसिकवर।
अरे, किन्तु यह क्या, यह क्या, मैं कह रहा ?
छल सी आकर गई, छद्म सी छिप गई ?

[आंखें खोलकर]

हैं यह कैसा हुआ, हृदय यह क्या हुआ ?
अरे, क्या हुआ अणु-अणु क्यों बेचैन है ?
हृदय काँपता, धड़कन उड़ती जा रही
श्वासों के संग नभ में पंख समेटकर
अन्धकार है लहर लहर-सा झूमता
लहराता है तिमिर चन्द की क्रान्ति में
पल - पल पीता जाता है आलोक की
शिखा, शिखा के छोर तिमिर को छू रहे
अभिनव सब उद्भ्रान्त हुआ प्रलयान्त भी।

जीवन, जीवन मृत सा मेरा हो गया।
एक स्पर्श था पवन उड़ रही वेग से
वेगों में उद्वेग भरा सा जा रहा—
उद्वेगों में शून्य, शून्य में हृदय है
और हृदय में आस शून्य ने ली निगल।
अब क्या पाऊँ, पाने को क्या रह गया?
ओ नभ, प्रलयी आग डाल दे विश्व पर
छार-छार हो मेरी सुषमा का जगत।
फ़ूल शूल है हुए, वसन्ती यह पवन
अग्नि-दाह सी फ़ूट पड़ी है विश्व में।
मानव, तेरा अन्त यही क्या सच, यही,
भूल गया हूँ मै अपनापन आज तो?
एक आग सी धधक उठी है विश्व में
आशाएँ जल उठीं, जले है रोम भी
कुछ भी कोई नहीं, विरह है, आग है।

[इधर-उधर घूमकर]

इन गुलाब की पंखुड़ियों पर हँस रहा
प्रिये तुम्हारी थिरकन जीवन चूमकर।
चम्पा की मकरन्द सुधा में उड़ रही
मुग्ध हृदय की मृदुता, कोमलता, सरल
अल्हड़पन, मस्ती, मादकता, वेसुधी
कण-कण में यात्री सा यौवन झूमता।
गेंदा क्षण-क्षण पीला होता जा रहा,
शतदल उसकी शत ही शत आँखें हुई

तुम्हें खोजने हेतु । द्रुपद् भी हा, पिघल
रोते से वह चले आग मन में लिये
एक तुम्हारी गीति तान से होड़ कर।
आज हमारे रोम - रोम वाणी हुए
औ' पुकारते ढूँढ रहे हैं विश्व में।
रोम - रोम में जाग उठी है प्यास सी।
भूधर, सागर, हिम, तारे, शशि, सूर्य से,
रंग - बिरंगी प्रकृति, मरुत्, मकरन्द से,
मद से, मानव के समुद से, मोद से,
हृदय, प्रेम से बड़ी तुम्हारी प्यास है।
मेरे अन्तर श्वास सजग बन, मूर्त बन
ढूँढ रहे हैं तुम्हें धरा के गर्भ में,
रवि-प्रकाश में, शशि-विलास, नक्षत्र में,
विश्व पिण्ड में, तल में, नभ में, महत् में
तम में, यम की दाढ़ों में उद्भ्रान्त-से।
नहीं मिलोगी—

[बेचैनी से घूमते हुए]

फिर जीवन में साध क्या,
जीवन ही क्या, मरण-मरण ही तो भला,
ओ अन्तर फट, हृदय बिखरकर टूक हो।
प्रेम जलो, आशाओ दहको आग-सी,
स्नेह-सूत्र टूटो, फूटो औ' आँख भी।
ओ वियोग, तेरा ही जीना हो सफल।
हाय अँधेरा हुआ तिमिर ही तिमिर है

कहीं नहीं आलोक-शिखा दिखती अरे !
अब तो मृत्यु समस्त श्वास की साध है।

[एकदम एक शिला-खण्ड से गिरने लगते हैं। इसी बीच में मेनका हाथ पकड़कर रोक लेती है।]

मेनका—

ओ सुन्दर, तुमसे ही जीवन सफल है !

विश्वामित्र—

हटो, कष्ट का पुंज आज जीवन हुआ।

मेनका—

मैं ही हूँ वह जिसे खोजता प्राण था।

विश्वामित्र—

[पीछे मुड़कर और ध्यान से देखकर]

मरणासन्न उसाँस तुम्हीं हो क्या प्रिये,
या प्राणों की चाह मूर्त बन आ गई ?
या आँखों में बसी हुई हा मूर्ति वह
ज्योतिहीन आँखों से बाहर हो खड़ी ?
मेरी संचित साध हृदय की तुम यहाँ ?
स्वर्ग-सुधा तुम, क्यों इतना कटु फल हुआ ?

मेनका—

प्रिय, 'वियोग' से सभी 'अहं' मल धुल गया
औ' अभाव जब दुःख सुधा का। क्यों न हो।
फिर मानव के हृदय भाव की कामना।
हृदय, प्रेम-कादम्ब पियो आकण्ठ तक।
नारी सुधा, पिपासाकुल नर की सुखद

शुभ्र प्रेम की मदिर-हृदय की चेतना।
ओ मानव, तुम कितने सुन्दर मधुर हो।
कितने ऊँचे हृदयवान, जाना न था
कितने मीठे ओ मादक, भूली रही।

विश्वामित्र—

जीवन की 'इति' में 'अथ' सी तुम आ मिलीं
ओ रमणी, संसार तुम्हीं हो जगत् का,
मैं अज्ञानी मूढ़, भूल सा था गया।

मेनका—

नारी स्नेहाधार सत्य ही है मनुज!

विश्वामित्र—

यदि नारी मद है कठोर यह नर 'चषक'।

मेनका—

[हँसकर]

अरे, नहीं मानव मद की है प्यास ही
यह नारी के सुखद स्वप्न के जगत् में
हँस जाता आँखों में आकर जब कभी
और भुलाता सुन्दरता का गर्व है!
यौवन की उत्कट इच्छा में झाँककर।
क्रोध, मान, अपमान, भर्त्सना, ताड़ना
कहाँ, न जाने कहाँ भाग जाते सभी
और हृदय पानी-सा होकर सतत ही
बहने लगता है प्रवाह में, प्रेम में
ओ प्रिय, ओ प्रिय···

[एकदम ऋषि का आलिंगन करके आँखें बन्द कर लेती है]

विश्वामित्र—

मधु-सर-फुल्ल-सरोजिनी !
नारी नर का प्राण, हृदय है अमित छवि
जीवन की गति, ओज, मधुरता मद मुखर—
वाणी, श्वास विलास, जगत है साध है।

[आलिंगन के आनन्द में दोनों ही विभोर हो जाते हैं]

(५)

बारह वर्ष बाद

[मेनका की गोद में एक बालिका है, जो कभी-कभी आँखें खोल देती है, कभी अपने-आप हँसने का प्रयास करती है। भोला मुख, प्रशान्त श्वास, कोमल शरीर, मानो शैशव सशरीर जीवन में उतर आया हो।]

मेनका—

[बालिका की ओर प्रसन्नता से देखकर आवेग और उल्लास से]

आज बदल जड़ गया जीवनोच्छ्वास में।
मान, घृणा, अपमान, कसक, वात्सल्य में
परिवर्तित हो मानो हँसने ही लगे।
जीवन क्या यह इतना सुन्दर स्वच्छ है
इतना सुन्दर क्या विलास का फल मधुर !
आँख खोलकर देख रही यह विश्व को
और विश्व भी विस्मित-सा जड़ मुग्ध-सा
देख रहा है प्रेम, कामना, साध को
मेरी, मेरे प्रिय की छवि में लीन हो।
भूल गई, मेरा भी कोई स्वर्ग था

और स्वर्ग की मैं रानी थी, गीतिका।
सुरपति की आँखों की चंचल तारिका।
मूर्त नृत्य की छम-छम करती ध्वनि मधुर
गायन की उन्मुक्त स्फूर्ति सी प्राण सी।
अरे सजीवित चित्र-कला की तूलिका।
भूली, गन्धर्वों की लय में प्राण का
मन्द-मन्द संचार, चारुता, रुचिरता;
मैंने जाना नहीं जगत इतना मधुर
अपना कम्पित हृदय· दूसरा देखकर।
है पावन यह प्रतिमा ईश-विलास की
उतरा आकर विश्व-स्वर्ग इस देह में।
मृदुल सरलता, शोभा, सुख, शैशव सभी
चूम रहे हैं झूम-झूम झुक श्वास को।
और भूलते-से जाते निज रूप को,
कर्म क्रिया को विश्वजयी स्मय देखकर।
जीवित जाग्रत एक खिलौना विश्व का
तू मेरी सम्मान, साधना, कामना,
तू मेरा अभिमान, रूप, छवि-मल्लिका,
रति की सुन्दर धड़कन मानो मूर्त बन
किसी स्वर्ग से उतर आ गई भूमि पर।
इसके सम्मुख स्वर्ग, सुधा, सुख, हेय है
हेय, मान, सम्मान, ज्ञान, अपवर्ग भी।
[आवेश में आकर बालिका का मुख चूमने लगती है]
देखो, ऋषि देखो, हम दो का स्वर्ग यह

भोला छल-बल-हीन, मधुर पीयूष-सा।
विश्व वार दूँ स्वर्ग वार दूँ सैकड़ों
होता है जी अनुपम छवि को देखकर
श्वासों का कौपेय उढ़ाकर ले उड़ूँ
नभ मे शशि का गर्व तोड़ने—

[विश्वामित्र का प्रवेश]

विश्वामित्र—

देव हा !
गरल अमृत के धोखे मे मै पी गया।

[उर्वशी का प्रवेश]

उर्वशी—

गरल अमृत के धोखे में तू पी रही।

विश्वामित्र—

मणि के भ्रम मे काँच-खण्ड लेकर चला।

मेनका—

प्रिय, यह क्या, ओ सखी, अरी क्या कह रही ?

विश्वामित्र—

हाय, सत्य से अनृत बदलकर हँस रहा
क्या इतना अपलाप तपस्वी का हुआ ?

उर्वशी—

यह सब कुछ भी नहीं जानती, मै यही
हृदय, प्रेम, आनन्द हमारी सृष्टि है।
क्षण-क्षण निर्मित होता है अनुराग यह
और व्याघ्र-मृग काल लीलता है जगत्।

भूल गई क्या अपने ही उद्देश्य को
भूल गई क्या जीवन की मृदु रागिनी ?

मेनका—

अरी उर्वशी तू यह सब क्या कह रही,
भूल गई हूँ मैं तो अपना पूर्व प्रण,
अपना ही उल्लास छलकता देखकर
प्राण प्राण में उदित हुआ नव विश्व है।
मुझे चाहिए नहीं इन्द्र का राज्य भी
फुल्ल-कुसुम-सी सुरभि मत्त यह बालिका
नव जीवन आलोक दीप्त लघु-तारिका
इससे बढ़कर कौन स्नेह का कोश है ?
अंग अंग से पूत प्राण की झनक ले
हम दोनों की सृष्टि रची है ईश ने।
मेरे सुख का स्रोत आज बन पुष्प फल
आ उतरा है धरा धाम पर स्वर्ग-सा
नहीं, नहीं, तू जा मैं तो हूँ मग्न-सुख,
मग्न-हृदय-अभिराम, कल्पना-नर्तकी।

उर्वशी—

भूल गई है अरी मेनके, आज, तू
क्या करना था तुझे कर रही और क्या !
'मुझे नहीं इससे है कोई द्वेष सखि,
और असंख्यों तापस करते तप यहाँ
किन्तु मेनका केवल इस ऋषि को यहाँ

वश कर दिखला देगी नारी कौन है ?
भूल गई ये वाक्य और प्रण जो किया ?
[उर्वशी चली जाती है]

(६)

मेनका—

[सचेत होकर देखती है कि उसके हृदय के कोने में कहीं भी नवीन रूप नहीं रह गया है। आहत-सी होकर।]

है यह कैसा ? समझी कितनी भ्रान्ति थी ?
'हम अभिनव की एक मनोरम रागिनी
जिसमे स्वर-माधुर्य उठ रहा है सतत
मंजु मूर्छना और ताल आरोह से
होता है उन्मत्त हृदय जड़ विश्व का।'

[कठोरता से]

लो यह अपना पाप-पुण्य जो भी कहो
मैं जाती हूँ तुम्हे तुम्हारा सौपकर।

[कन्या को विश्वामित्र की ओर बढ़ाती है, ऋषि लेने में सकुचाते हैं। वह बालिका को एक शिला पर लिटा देती है।]

ओ मानव, तेरी आशा का अन्त क्या,
तू विलास पर निज पौरुष के महल को
बना-बनाकर नारी को छलता रहा
तू उमंग ले विश्व-विजय को चल रहा।
किन्तु पैर की उंगली कितनी लघु अरे,
छोटे से पैरों से, डग से नापना
चाह रहा है सभी विश्व को गर्व से।

विश्वामित्र—

जीवन मेरा भूला अपने ध्येय को
चढ़ते - चढ़ते भूधर के नीचे गिरा
और स्वर्ग के द्वार खोलकर झाँककर
लौट पड़ा आ गिरा दु:ख में, नरक में,
समझा, मेरी निर्बलता ने तुरत ही
मुझे दबोचा आकर पीड़ित कर दिया
और महल आशा का मेरा भग्न कर
मुझे बनाया पथ का भिक्षुक, दैव हा!
अरी, क्या कहा 'तू अभिनव की रागिनी
जिसमें स्वर-माधुर्य उठ रहा है सतत'
तू जीवन का विपम पंथ रौरव प्रबल।
अमृत छलकते हलाहल का विषम घट
दानव से, छल, कपट, ईर्ष्या मद लिए
देवों से आकण्ठ विलासी वासना
नारी में ही दीख रही अंगार सी
मादक सी, पापों सी, ऊँची तान भर।
यह वसन्त, यह पुण्य, अनल है, दाह है,
यह राका पापों की लहरों से जड़ी।
उसी समय मानव के सुख पर गिर गया
दुख का वज्र जभी नारी की चेतना-
पर रीझा नर काम-अग्नि में प्राण दे।

मेनका—

तभी स्वर्ग का राज्य छीनकर हे प्रबल,

तुम ऊपर - ऊपर को उठते जा रहे।
विश्व खिलौना आशा का उल्लास का
बनता ही क्या नहीं तुम्हारा जा रहा ?
जीवन - पथ में पड़ा हुआ सुख ढूँढकर
निज प्रयास से द्विगुणित करते भ्रान्ति से।
सदा संगिनी नारी को दासी बना
निज सुख-सीमा बढ़ा-बढ़ाकर हँस रहे।
आज तुम्हारा मानव क्यों कम्पित हुआ
नारी-स्मय की छाया में पलकर तनिक,
कौन अमृत के धोखे तुम विष पी गये ?
क्या न स्वर्ग की साध तुम्हारा तप रहा ?
क्या पौरुष को और सबल करना नहीं
रहा तुम्हारा ध्येय सृष्टि की आदि से ?
क्या न इन्द्र बनने की तुम में चाह थी ?
क्या न तुम्हें विधि, हरि, हर से भी उच्चतम
होने की आकांक्षा तप से पूर्व थी ?
क्या न हृदय में एक भृकुटि-संकेत पा
नये विश्व रच देने की थी कामना ?
कौन काम निष्काम कर रहे थे कहो।
और आत्म-सुख का उसमें था लेश भी
नहीं, अरे ओ मानव तेरा पूर्ण श्रम
यही विश्व को प्राणहारिणी चाह थी ?

विश्वामित्र—

माना नर ऊपर उठने की चाह में

सभी स्वर्ग का महाराज्य पाने चला।
किन्तु न क्या यह जीवन की है सफलता
और न क्या मानव को है अधिकार यह ?
कहो भला नर के उठने से क्यों हुआ
नारी का अपमान। विश्व संघर्ष है।
साहस हो जिसमें, बल हो औ' शक्ति हो
होगा वह ही, विजय-कीर्ति नेता, सदा।
कौन मार्ग में आकर नारी के खड़ा,
विश्व वश्य होता है बल पर, शक्ति पर।

मेनका—

क्या न अभी तक देख सके संघर्ष का
साहस का औ' शक्ति साधना का कुफल।
देवों का असुरों से क्यों संग्राम यह
होता रहता सदा जगत् में; शान्ति का
क्यों न रूप ही देख सकीं, हम आज तक ?
यह अकाम्य की सदा कामना दुःख है।
इस उमंग में आकर तुमने स्वयं ही
नर-नारी की श्रेष्ठ सृष्टि का नाश कर
पूर्ण सौख्य की अवहेला करके निठुर,
जीवन को कर डाला रौरव नरक है।
एक कृत्य में नहीं अनेकों कृत्य में
सब समाज में पूर्ण जगत् में नित्य ही
निज सत्ता की, निज प्रभुत्व, निज दर्प की
दीप-शिखा लेकर चलते हो आज भी।

क्यों न व्यक्तिगत स्वार्थ-भावना त्यागकर
जन जन की कल्याण कामना चाहते,
क्यों न सभी को जीने का अधिकार हो
अपने रूप - विकास, पूर्णता का परम।
एक हाथ से करता नव-निर्माण तू
और अपर से नाश उसी का कर रहा ?

[मेनका का प्रस्थान]

(७)

विश्वामित्र—

गई हृदय में आग लगाकर उड़ गई,
गई व्यर्थ सा कर नर के उल्लास को।
गई ज्ञान की दीप - शिखा उद्दीप्त कर
चली गई तू मानव की आराधना ?
ठहरो, मेरा चित्त ग्लानि से पूर्ण है,
तुंग विभीषा मेरे मन में उठ रही।
हाय, समझता मै जिसको कल्याणकर
वह सब निकली छूँछी ज्ञान-विभावना !
सचमुच मैने स्वार्थ - हृदय के भाव को
जीवन का समझा था उन्नत मार्ग ही।
मेरे तप मे, जप समाधि में धूम था,
स्वार्थ, व्यंग्य, अपलाप, शाप का, हेय का
निम्न कोटि का, नरक-द्वार का भाव था।
जाना मैने हाय, आज क्या हो गया

निश्चय कुछ भी नहीं कर रहा—क्या कहा—
'क्या न अभी तक देख सके संघर्ष का,
साहस का औ' शक्ति-साधना का कुफल ?
देवों का असुरों से क्यों संग्राम यह
होता रहता सदा। जगत् में शान्ति का
क्यों न रूप ही देख सकीं हम आज तक
यह अकाम्य की सदा कामना दुःख है।'
ठीक, ठीक ही कहा सुखों की आस में
दुख ही नर ने बढ़ा लिए हैं घोरतर।
शान्ति वस्तुतः शब्द-कोश की वस्तु ही
रही। हाय मानव ने यह क्या कर दिया !
नारी को निज सुख का साधन मानकर
उसे बनाया हमने पथ का पुष्प है।
परब्रह्म ने सृष्टि रची थी इसलिए
हम सब सुख से रहें समान विभाग से;
जीवन का सुख भोगें, देखें प्रकृति का
उज्ज्वल अभिनव रूप, स्वर्ग का सृष्टि को
दिखला दें, उस जीवनेश को कर्म का
सुन्दरतम फल और सफल जीवन करें।
ओ जीवन के हास, आज तुम हँस उठो,
देखो रवि-आलोक, चन्द का स्मय मधुर,
पुष्प-पुष्प पर किरण डाल जीवन बना
इस लघु में हो सारे जग का बिम्ब ज्यों ?

[बालिका रोती है, ऋषि उसे उठाकर प्यार करने लगते हैं]

[एकदम कुछ सोचकर]

हैं यह क्या, यह क्या मैं भूला लक्ष्य निज,
किंवा मेरा भूला है सुविवेक ही !
अन्तर में घुटता सा है यह धूम क्यों
फोड़-फोड़कर इस शरीर से निकलता !
सब कुछ भ्रम सा, मिथ्या सा लगता मुझे
देख रहा हूँ सब कुछ खोया आज तो !
नहीं, नहीं, यह हृदय-राग कुछ भी नहीं !
मैं बनने ब्रह्मर्षि चला था, दुःख हा,
राजा बनने चला भिखारी हो गया !
हीरा होने चला कोयला हो गया !
सत्य सुधा में, विष में, औ' मणि काँच में,
तिमिर तेज में और दिवस में, रात में,
पशु में, मानव में, जीवन में, मृत्यु में
नहीं कभी क्या कोई भी अन्तर रहा ?
कुछ भी स्थायी नहीं विश्व में एक 'मैं'
का मिल जाना ही महान् में सार है।
क्यों न आज फिर 'अहं' खोजने को चलूँ ?
क्यों न विश्व का नरक छोड़कर स्वर्ग से
मिलने जाऊँ जो शाश्वत है, नित्य है।
अरी बालिके ! तू अपने ही दैव पर
जी या मर, मेरी तू कुछ भी है नहीं।
कोई भी कुछ नहीं 'कहीं' भी कुछ नहीं

स्वयं 'अहं' यह बँधा हुआ है हँस रहा।
औ' इसकी नश्वरता से नित फूटकर
रोता है जग नित्य तुहिन के व्याज से।
पतझड़ के पीछे बसन्त है यदि यहाँ
क्षार - क्षार कर देने वाला ग्रीष्म भी—
तो वसन्त के हँस उठते ही आ खड़ा
होता जलती-सी मशाल रवि की लिए।
रोना, हँसना, दिवस-रात की ही तरह
जीवन और मरण से आता जा रहा।
हा, हा, जीवन के छोटे से श्वास पर
मरण, वेदना, हास, प्रेम औ' विश्व के
सब प्रपंच उठते विलीन होते सभी।
क्यों फिर मैंने हाय, आग को हृदय से
लगा - लगाकर तप का मृदु कौषेय लघु
भस्म कर दिया क्षण में अरे, क्षणार्ध में।
नहीं बालिके, मैं न रुकूँगा तनिक भी।
तव शैशव में अनल जल रहा, श्वास में
जीवन उठ-उठ मूर्त बना सा, घृणा सा
मुझ पर ही हँसता है हँसता जा रहा।
मानो सब कुछ किसी कृपण का लूटकर
डाकू करते अट्टहास उपहास हों!
हाय, पतन ने क्षण-भर में ही छीन ली
संचित हृदय-विभूति। प्रेत सा कर दिया!

[बालिका दृष्टि भरकर ऋषि की ओर देखती है। ऋषि उसे बिना देखे ही चले जाते है।]

★

मत्स्यगन्धा

पहला दृश्य

गंगा तट, संध्या समय—

[मत्स्यगन्धा और उसकी सखी सुभ्रु नदी-किनारे के उपवन में पुष्प चुन रही हैं।]

दोनों—

[गाती हुई]

गन्ध विधुर मन्द पवन
निखिल सुरभि मुग्ध सुमन
घूम घूम करें चयन
आओ सखि, आओ सखि।
जागा सुख-संध्या सुहाग
भरता अग में, जग में, बिहाग
भरता प्राणों में अबुझ आग
गुंजित पक्षी रव कुंज धाम
मद के नद सी भर गई शाम
तन में मन में है काम वाम
उल्लसित सुमन, उल्लसित पवन
यह मुक्त सुमन, यह लग्न सुमन
आज घूम करें चयन
आओ सखि, आओ सखि।

सुभ्रु—(सन्ध्या के सौन्दर्य में मग्न-सी होकर)
देखो, सखि देखो, देखती हो अरे, कैसा यह
मंजु वीणापाणि शारदा की स्मय-भावना सा
स्फटिक—प्रफुल्ल फुल्ल धराधाम दीखता है।
मन्द-मन्द मारुत का प्राण सा निखर रहा
मान सा विखर रहा शची के विलास सा
मधुर। इस वेला री, दिनान्त में प्रभात सा
हुआ है। विशद चल वीचि-माल जालियों में
घुलने लगी है सब रक्तिमा समेटकर
आशाएँ हृदय की। मधुर मधुर तर
भरता सा कोलाहल मुखरित हो-होकर।
माधवी की, यूथिका की, मंजुश्री—पुष्पराशि
मद के चषक से उड़ेलती प्रभूत पूत
शोभित वनान्त में निशा का मुख खोल-खोल
देखा अरी, देखा, कैसा......

मत्स्यगन्धा—(फूल चुनती हुई ठहरकर)
—सुन्दर महान् सब।
नित्य देखती हूँ सखि, मुक्त-गुच्छ-तारिका का
नभ में अनभ्रहास, क्षितिज के मुख पर
रोली सी लाल-लाल, होली खूब जलती है,
जैसे सारे नभ का अनल जल-जलकर
मदहीन उसे कर देने उठ आया आज!
और देखती हूँ द्वितीया के चन्द्रमा ने दूर
मांसहीन अपने हृदय की रेखा खींचकर

उस नील नभ का सुनील पट चीर दिया;
नागदन्तिका सी वक्र गाड़ दी किसी ने वहाँ
अनजान में ही मंजु ग्रन्थियाँ कपूर की।

[विभोर सी होकर]

प्रिय सखि, आज मम हृदय सिहर कैसी,
प्रकृति हृदय ही या हुआ मुग्ध ऐसा आज,
मानता नहीं है मन; यौवन की क्या लहर
कहता जगत जिसे होगी वह कैसी भला ?
कौन जागता है, कौन सोता मेरे पास छिप
जान सकना कठिन। किन्तु, देखती यही कि कोई
राग सा बजाने मेरे प्राणों की वीन पर
चल-चल आता है। कौन है वता तो वह
देखते ही जिसको मैं भूल जाती सुध-बुध,
विश्व भूल जाती, भूल-भूल धर्म नीतियाँ भी;
अतल हृदय ताल निर्मल अमन्द मन्द
उठती तरंग मेरे अंग अंग, प्राण में।
कैसा यह, कैसा यह, भावना से प्रेरणा का
प्राणों से है मन का अमिट संयोग हुआ ?
कैसी यह जीवन में लसित तरंग सखि ?

सुभ्रु—(आश्चर्य में आकर)

तेरे मृदु अन्तर में कौन चुपचाप वैठा
गा रहा है गीत, मैं तो जानती नहीं हूँ कुछ ?
मैं तो यह जानती हूँ कोई कह जाता मंजु—
मंजु-वृन्त-किशलय के तन्तु में उलझती सी

प्रमुदित करणों की सी सुषमा लिये हुए
आई हूँ धरा पर न जाने, कौन जाने सखि ?

मत्स्यगन्धा—

[उन्मत्त सी होकर]

जाने कैसा हो रहा है, कैसा यह हो रहा है,
मेरी सब इच्छा की सीमाएँ बिखरती हैं;
जैसे मैं अनन्त-मद, किन्तु हुई मदहीन ?

सुभ्रू—

हाँ, हाँ यह—

मत्स्यगन्धा—

कैसा कुछ—

सुभ्रू—

—रोम का मृदु-प्रकम्प···

मत्स्यगन्धा—

ऐसा यह रोग फिर इसका उपाय क्या ?
किन्तु निरुपाय साध्यहीन भी तो कैसे कहूँ
बता तू ही, तू ही बता······

सुभ्रू—

—जाने दो अबाधमान
गति से अनन्त तोय भरे हुए ऊर्मि लिये
बहती सरित नित मानों कान बन्द कर।

मत्स्यगन्धा—

दुख-हीन, लक्ष्य-हीन, स्वर-हीन, लय-हीन
एक ही प्रमत्त मति, एक ही प्रमत्त गति।

ऐसे ही तो मैं भी बही जा रही हूँ, किन्तु मैं तो
नाविका हूँ, केवट की बेटी, काम जिसका
पार पहुँचाना। (नहीं, लहर-सी मुक्त हूँ मैं,
मुक्त-गुच्छ कलिका-सी स्वर्ग ने गिराया जिसे
साधना का बोझ लिए और इन ऊर्मियों ने
स्नेह के विधान ऐसा, अस्थिर प्रकाश ऐसा—
प्रेम की जलन ऐसा)...

सुभ्रु—

—मौन सिखलाया है।
जानने लगी है अरी, तू भी मान मान सखि,
मानने लगी है निज हृदय की सीख सखि?
मैं क्या हाय, मैं क्या जानूँ, जानती नहीं हूँ कुछ।
(मैं तो चाहती हूँ शुभ्र-सुमन की मंजु-माल
बन जाऊँ, बन जाऊँ शरद सुधांशु सी।
और नभ-हास का विलास लिए फैल जाऊँ
मुक्त नभ नीलिमा में तारिका प्रफुल्ल सी।
खोल निज हृदय बिखेर दूँ प्रमत्त मधु।
जिसके शकल घन सुधा से अनन्त झर
विश्व को अमृतमय, विश्व को अजरतर,
विश्व को अमरतर कर दें अनन्त काल।)

[फूल चुनती हुई आगे बढ़ जाती है]

[छायामय अनंग का प्रवेश]

मत्स्यगन्धा—

आप कौन?

अनंग—

मै अनंग विश्वरंग ।

मत्स्यगन्धा—

काम क्या ?

अनंग—

—प्रताडना, विमोह-मृदु ।

मत्स्यगन्धा—

ऐसे सुकुमार आप······

अनंग—

चन्द्र में प्रसाद सः,
सुमनों में पुष्परस, कण्ठ कल कोकिल में,
हूँ प्रगल्भ हास मैं, जपा में अरविन्द कुन्द,
गर्विता सुमालती में मदिर मदिर गन्ध;
यौवन में तृप्ति-हीन तृष्णा, प्ररोहलोम ।

मत्स्यगन्धा—

किन्तु प्रिय-मानव में···!

अनंग—

—सैकड़ों वसन्तहास,
शतशत उद्‌गार, शतशत हाहाकार,
प्रणयो में पीड़ित हृदय का अवर्ण्य छन्द ।

मत्स्यगन्धा—

देख तुम्हें हे अनंग, प्राण नव आस लाया
जैसे लिये आ रहा कि शेष हो अशेष को ।

कैसे तुम सुन्दर, ज्यों मिश्रण हो शैशव का,
यौवन का, तारिका का, विधु का, विलास सब।
आहा, तुम्हें देख मानो जीवन परम साध
जुड़ आई हो ज्यों बाल-रवि उषा संग-संग।
देखी ऐसी, देखी कब, दामिनी की शुभ्ररेख
मूर्त रूप धर चली, उतरी अनन्त से
इस जग दुःख से अमर करने के लिये;
युक्त करने के लिये सुख को अमृत में।
मानो विश्वराग हो शरीर धर आया हो।
हीरक के सर में जड़ी है नीलमणि मानो
बुरक दिये हैं लाल कूटके कहीं-कहीं।
अष्टमी के चन्द्रमा की फाँक ऐसी शुभ्र आँख
कर्ण कुहरों से कुछ कहने चली है आज?

अनंग—

मैं तो प्रिय यौवन अनन्त हूँ, अनन्त-दान,
यौवन अनन्त-मान, ध्रुव सी, विरुद माल।
विश्व के समस्त सुख का हूँ एक ज्योति-पुंज
पद-चापहीन नित भू पर उतरता।
यौवन उदग्रगन्ध मत्स्यगन्धे, जग में है
दिशा आलवाल में सुधांशु के उदय सा
तमहीन, जैसे नभमालिका बटोर सब
तारिकाएँ भूरि भेंट भेंटती दिवस को।
और वस्त्रहीन और आभूषणहीन रति
तिमिर उदधि में छिपाती निज रूप छवि;

वैसे यह यौवन है जीवन-अकल्प पुष्प
तुझे अपनाने आया······

मत्स्यगन्धा—

—ओ अनंग, ओ अनंग !
मैं दरिद्र केवट की बेटी हूँ उपायहीन
एक उल्कापात सी निरर्थ धरा धाम पर।
छोड़ दो मुझे न व्यर्थ पात्र करो हे अनंग,
यौवन चषक का अनन्त-मद नव नव।
क्या करूँगी लेके इसे असहाय दीन-हीन
कहीं नाव डूबे न,

अनंग—

अतल जल-धार में।
यही न, यही न, तुम कहती हो किन्तु सुनो,
मैं न देखता हूँ धन वैभव अतुल बल।
देवों ने इसी के लिए किए है अखण्ड तप,
और वे अमर हुए लिए धन मद का।
एक यही परमेहा यौवन अनन्त रहे
विष्णु आदि देव भी तो चाहते हैं नित्य यह।
च्यवन से ऋषियों ने यह वरदान लिया,
यक्ष, नाग, किन्नरों को सदा अभिप्रेत यह ?

मत्स्यगन्धा—

किन्तु मुझे चाहिए न हे अनंग, यह दान
मेरे लघु प्राण में अनन्त अचिर-मद-भार,

कैसे आ सकेगी हाय, कैसे मैं उठाऊँ भार
कैसे एक पात्र में भरेंगी सरिता महान् !

अनंग—

कब प्रिय अवसर मिलता है बार - बार
लीलता ही जाता यह काल-व्याघ्र चुप-चाप !
किन्तु मैं तो देखता हूँ, देख ही रहा हूँ सत्य,
हृदय उमंग कब ज्ञान को बनी है प्रिय ?

[प्रस्थान]

मत्स्यगन्धा—

[जागती सी चेतन होकर]

कैसा यह छायाचित्र, प्रिय सा कहाँ से आया
क्या कहा, सुना न हाय. देखा कब निरुपम,
निर्विकार, प्राणसुख, क्या कहा न याद कुछ ?
घूमता सा देखती अलातचक्र ऐसा चित्त,
रह रह, काँपती हैं रोम राजियाँ निखिल।
इष्ट सा मिला हा, औ' मिलन सा हुआ क्षणिक
कल्पना, छलावा सा, प्रवेग सा गया है छिप;
या उमंग मन की थी, या तरंग जल की थी,
या फुहार मेघ की सी झलकी औ' समा गई ?

[सुभ्रु का प्रवेश]

सुभ्रु—

क्या हुआ है तुझे सखि, कौन था, कहाँ था कौन,
मैं न देख पाई कहीं साधना परम सी।

मत्स्यगन्धा—

मिली प्रिय प्राण छवि, मिला प्रिय प्राण-दान,
वक्र सी भृकुटि लोल नेत्र-मद सरिता सी।
हाय, वह यौवन का क्यों न वरदान लिया,
क्यों न अभिमान मिला यौवन निखिल सा।
आओ प्रिय, दे दो अभिशाप भी तुम्हारा प्रिय
हे वरद, हे महान्, हे अनंग! अंग अंग

सुभ्रु—

आओ चलें, आओ चलें, मैं न समझी ही कुछ
क्या मिला, गया क्या हाय, कौन था हृदय-धन?

मत्स्यगन्धा—

जान कहाँ पाई सखि, खोजती पलक डाल
हृदय बिछाए हुए उसको...न जाने कौन?
स्वप्न सा समाया और विस्मृति से विद्ध मन
यौवन की छाया एक, सिहरन भर गया,
भर गया रोम-रोम, अंग-अंग, प्राण शत
शतशत मद-नद, शतशत हाहाकार।

सुभ्रु—

यौवन का प्राणवाह पंचशर द्वार द्वार
फिरता अनन्त छवि भर भर अंग में।
जीवन यही तो सखि, जीवन यही तो प्रिय,
है यही प्ररूढ उद्दाम राग प्राण का!
स्वप्न की निखिल भूति, अनुभूति साधना की
विश्व की विभूति एकमात्र, एकमात्र रुचि।

कण कण पिण्ड के हैं जाग उठते से देख,
भर जाती रोम रोम अतुल पिपासा उग्र;
विश्व अभिनव मद, अभिनव राग यह
नवनव प्रतिपल आलिंगन प्राण दान।
स्वप्न सखि, चिर सत्य, प्रिय सखि प्राण गान
मूक जग जागृति अथ च हेय अन्य सब।
आओ चलें, आओ चलें ··

मत्स्यगन्धा—

—पद गतिहीन हुए।
छन्द यतिहीन हुआ, मतिहीन मति है।

[प्रस्थान]

दूसरा दृश्य

प्रदोष का समय

मत्स्यगन्धा—

[नाव के पास डांड एक हाथ में लिए]

यह ग्रन्थि, यह ग्रन्थि सुलझेगी या कि नहीं
उस दिन देखा था क्षणिक अथ तृप्तिकर।
हाहा, यह कण्ठ अवरोध कर देनेवाली
दाहकर, सुखकर प्यास क्या न शान्त होगी ?
कौन तप्त शृंखला में जकड़ रहा है मुझे
उबल उबल मेरा प्राण जाग उठता ?
क्यों न राका शारदी सदा ही रहती है यहाँ
मुक्तहास लड़ियाँ सी छोड़ छोड़ नभ से ?
क्यों न ऋतुराज का समाज चिरकाल तक
कल्पवल्लरी के मंजु अपर कुसुम सा
विकसित होता है अनंत मद भार लिये
औ' अनन्त प्यार लिए यौवनोद्यान में।
क्यों न मकरन्द मद मत्त षट्पद यह
गिंजना विखेरता प्रसन्नता उड़ेलकर ?
ध्रुव भी प्रकाशहीन रहता निशान्त मे है
कैसा यह वैपरीत्य······

[देखती है जटाओं की गठरी लादे नाभि तक लम्बी दाढ़ी फहराते हुए एक ऋषि सामने खड़े है।]

पराशर—

—उस पार जाना है।

मत्स्यगन्धा—

[घबराकर स्वगत]

हैं हैं यह कौन, प्रिय यौवन का एक दीप
नर अभिलाषा का निपट अवसान पुंज !

[प्रकट]

हो प्रणाम देव, शिरसावनत कन्यका का
स्वीकृत, पिता ने आज भार यह सौंपा मुझे
यद्यपि विमूढ़, मूर्ख दारिका मैं केवट की ?

पराशर—

शिव शिव कहो कौन मूर्ख कौन मूढ यहाँ
काल जीवनेश सिखलाता है प्रपंच सब
पार पहुँचा दो सुकुमारि, शीघ्र शीघ्रतर।

मत्स्यगन्धा—

हाँ हाँ किन्तु .....

पराशर—

—गर्भित है 'किन्तु' में क्या ?

मत्स्यगन्धा—

जीर्ण नाव, शीर्ण बल, अनिल प्रबल।

पराशर—

—चलो।

जाना ही है पार पहुँचा दो प्रिये, त्वरतर।

तीसरा दृश्य

समयः सूर्यास्त

[नाव में पराशर ऋषि बैठे हैं, मत्स्यगन्धा नाव चलाती है । सब ओर शान्ति है केवल कभी छप-छप की ध्वनि सुनाई दे जाती है ।]

मत्स्यगन्धा—

यह तो अनय प्रभो, कैसे मान लूँ मैं यह,
हीन जाति तो भी है समाज का अभव्य भय ।
कैसे यह, आप ही बताइये, बताइये न ?

पराशर—

ठीक है समाज का प्रवाद अति दारुण है
किन्तु है समाज का विधान तो मनुजकृत;
छिन्न कर देता वही जो इसे बनाता कभी
मानव की प्रेरणा का फल ही नियम है ।
आओ, सुकुमारि, सब तोड़ दें नियम जाल
प्राण जड़ बन्धनों में जीवित रहा है कब ?
रवि जो प्रकाश देता विश्व में किरण डाल
वही हीनप्रभ नष्ट होता है दिनान्त में ।

मत्स्यगन्धा—

किन्तु हिताहित भाव मूल हैं नियम के
और ये नियम ही समाज शिलाधार हैं ।

यह है अधम काम ज्ञानहीन मानवों का,
आप तो महान् ज्ञान गुण के निधान हैं।
मैं हूँ दीन नारी, अज्ञ, मूर्ख, अविचारी प्रभो ?

पराशर—

[सोचते हुए]

शिव शिव कहो प्रिये, धर्म है अनन्त रूप।
तथा वचनीय नहीं साधारण नर को।
'सृष्टि मूल धर्म है, प्रकृति मूल कर्म सदा
श्रद्धा मूल भक्ति है, समाज फल मूल है।'
तुम नहीं जानती हो धर्म का गहन रूप
यह अविचार्य अथ सरल जटिल तर।
मानता है मानव जिसे ही धर्म-वस्तु आज
कल वही होती अविधेय नरलोक में।

मत्स्यगन्धा—

किन्तु ऋषिवर, जिस कार्य का सम्बन्ध जहाँ
उससे वही तो फल पाता है स्वकृत नर।
नाथ, क्षमा कीजिये, मैं जानती नहीं हूँ तो भी
अपने को चीह्नती, स्वधर्म को भी चीह्नती।
नारी के स्वरूप, सुख, शोभा में छिपे हैं देव,
संख्याहीन अभिशाप, संख्याहीन यातना।
वासना का वेग वहता है अति भीम वहाँ
कृच्छ्र दमनीय, वह प्रलोभन पुंज और
आकर्षक, नारी एक श्वेततम पट सम
जिस पै तनिक विन्दुपात भी कलंक है।

अल्प ही अकाम्य गति, अल्प ही विधान भंग
अल्प ही कुपथ गति, यति है विकास की।
अपयश, अपलाप नारी के लिए हैं सृष्ट
जीवित ही नारी का मरण रच डालते।
कैसे तोड़ बन्धनों को जो बहुत काल से हैं
आज मैं अबन्ध हो चलूँ क्यों अविधेय पथ ?

पराशर—

ऊँच नीच कोई नहीं, पाप पुण्य कहीं नहीं
कर्माकर्म कुछ नहीं, ओ अनंग रंजिते !
सब ही अपेक्षाकृत अविधेय औ' विधेय
है नियम निर्माण भंग-मूल जग में।
एक नर गौरव सामर्थ्य ही महान् यहाँ
लघु को विधान हैं, नियम हैं, समाज के।
देखो, लघु सरिताएँ चलतीं विधान लिये
और वही पावस में बाँध तोड़ चलतीं।
मध्य रवि के लिए क्या कोई भी नियम है ?
स्थल समता की क्रन्दनाएँ करते हैं अति
किन्तु भूधरों की उच्चता का नहीं अन्त है।
नियम महान् के महान् ही तो होते आये
लघु को नियम लघु होते हैं सुचिरतर।
नर है अतर्क्य, ज्ञान उसका अतर्क्य सुभ्रु ?
मानव समस्त विश्व चेतना का मूल है।
आओ, इस कृत्य में भविष्य का प्रकाशमय
एक दीर्घ तारक का दैव सुनिहित है।

मत्स्यगन्धा—

[घबराकर]

किन्तु ऋषि, कन्यकात्व ?

पराशर—

—वह भी कलंकहीन।

मत्स्यगन्धा—

माननीय होगा क्या ?

पराशर—

—री, नर तो सदा अदोष।

मत्स्यगन्धा—

कैसा वह यौवन का रक्षणीय रूप मधु
चिर-चिर काल तक अन्त-हीन सुख क्या ?

पराशर—

देखता हूँ सुन्दरी मैं निज ध्यान-दृष्टि से ये
तुममे भरी है चिर यौवन की कामना।

मत्स्यगन्धा—

[उत्सुकता से]

हाँ हाँ है विचार यह, अविचार होगा वह,
क्यो न ऋतुराज कल्प-कल्प तक रहता ?
यह जन्हुकन्या सदा यौवना ही दीखती है
क्या न मेरा यौवन ··

[लज्जा नाट्य]

पराशर—

—अनन्त मद राशि हो,

देता वरदान तुम्हें। किन्तु नारी, प्रिय भी
सदा न प्रिय लगता है—

मत्स्यगन्धा—(हाथ जोड़कर)

—नाथ, वह इष्ट मुझे।

पराशर—

एवमस्तु, एवमस्तु—

मत्स्यगन्धा—

—एवमस्तु प्रियतम।

[एकदम अन्धकार छा जाता है। नाव स्थिर हो जाती है। उसी अँधेरे में सम्वाद सुनाई देता है।]

एक आवाज—

नाथ, यह कन्यकात्व ?

दूसरी आवाज—

—वह भी कलंकहीन।

पहली आवाज—

माननीय होगा क्या !

दूसरी आवाज—

—री, प्रभु है सदा अदोष।

पहली आवाज—

नाथ, वह यौवन का रक्षणीय रूप मधु
चिर चिरकाल तक अन्तहीन सुख क्या ?

दूसरी आवाज—

आओ, इस कृत्य में भविष्य का प्रकाशमय
एक दीर्घ तारक का दैव सुनिहित है।

[आवाज धीमी होती जाती है]

पहली आवाज—

क्या न मेरा यौवन ?

दूसरी आवाज—

—अनन्त सुख राशि युत।

देता वरदान तुम्हें। किन्तु प्रिये, प्रिय भी
सदा न…

पहली आवाज—

—प्रिय रहता है, नाथ, वही इष्ट मुझे।

दूसरी आवाज—

एवमस्तु, एवमस्तु—

पहली आवाज—

—एवमस्तु ऋषिवर !

चौथा दृश्य

मत्स्यगन्धा— .

[एकाकिनी उसी नदी के किनारे]

क्या हुआ हा, कैसा यह, याद पड़ता न कुछ
रोम रोम बहा नवचेतन अनन्त मधु,
और लगता है जैसे विश्व अभिनव ने ही
मद का उदधि भर डाला मानो देह में।
देखती हूँ लतिका का एक मूक कम्पन सा
फुल्ल सुमनों में भर रहा है अनवरत
दीप्त प्राण, मूर्तश्वास, जग का विलास सुख।
दिशा की वधू की वेणी खोलने लगे ये मेघ
वेणी ही बने हैं किंवा मेरे कुन्तलों में भूल।
अमृत, आनन्द, मद रोम रोम लहराता
मेरी मत्त चेतना में सोता हुआ उठकर।
सींवन सी तोड़ देने देह की चले हैं आज
प्राण मेरे बन्धन निर्बंध करते हुए।
विश्व सुषमा से इस नील नभ में ही किंवा
मृदु, स्वेद-बिन्दुओं का अजर नक्षत्र लोक
मधुर मधुर लिपियों से लिखता है आज
सैकड़ों कलम से सुयौवन के पट पर।

[सोचकर]

मै न कुछ कह सकी, रोक ही सकी न हाय,
उन्हें इस कार्य से, अकार्य से विमूढ़ सी।
जैसे सब मैं ही हूँ, महान जल धार में
शतशत राकाओं का हास उठ आया हो।
क्या कहा था याद आता। 'देता वरदान तुम्हें
किन्तु प्रिये, प्रिय भी सदा न, प्रिय लगता है—'
मैने कहा धीरे धीरे, 'नाथ, वह इष्ट मुझे।'
उन्होंने कहा था फिर 'एवमस्तु एवमस्तु।'
मेरा प्राण हँस उठा—'एवमस्तु ऋषिवर!'

[प्रस्थान]

पाँचवाँ दृश्य

समय : सन्ध्या

[सत्यवती क्रीड़ा उद्यान में स्फटिक शिलातल पर बैठी वीणा बजा रही है। सामने फुहारे के जल के कण आकाश के पवन पर नाच कर आलबाल में गिर रहे हैं। सूर्य की अस्तोन्मुख रश्मियाँ अपने सौन्दर्य से उद्यान की लताओं, तरुओं, कलियों, कुसुमों और पानी के स्रोत को रंगीन कर रही हैं।]

मत्स्यगन्धा—

[गीत]

मदिर मदिर यौवन उभार चल
मधुर मधुर मेरे सिंगार पल
सप्त सिन्धु एकाकी जीवन
नभ असीम एकाकी यौवन
छवि में प्रिय की छवि लाके तुम
प्राण झरोखों से झाँके तुम
कुन्तल पर लहरों के बादल
नाँप 'आज' से रहे नये 'कल'
उमँगे मेरे मद-सागर से
आशाएँ यौवन-गागर से
पुलक पुलक यौवन अँगार जल
मधुर मधुर मेरे उदार चल

[शुभ्र का प्रवेश]

सुभ्रु—

गीत में क्या यह सुख, यह मद ? जाना नहीं
कण्ठ का सुरीला स्वर शत परभृत सा,
मद-सिक्त, रूप-सिक्त, सुधा-सिक्त, सुख-सिक्त
सुना ऐसा कभी नहीं चेतन अचेत कर।

मत्स्यगन्धा—

यौवन के उठते उभार से मैं नाँप रही
कोने युग युग के औ' सप्त-रश्मि सीमा धन,
अपने ही नेत्र की सुरश्मियों से धोने चली,
धोने चली विधु का कलंक निज हास से।
मैं गगन जलघन, मेघ मन्द्र गर्जन को
अपने ही यौवन के स्वर से हूँ साधती।
मेरी है अछोर आस, साहस अथक मेरा
प्राण हैं सुदृढ़ वज्र दण्ड से अजेय गुरु;
नाँप सके पृथ्वी की, नभ की भी सीमा सब
एक ही सी गति से अयति पदगति मम।
मेरे उग्र यौवन का मध्य काल हीन-संध्य,
विशद विजय वैजयन्ती निज गाढ धरा
नभ की नवीना दामिनी का पीत-भाल फोड़
रँग रहा स्वर्ण के सिन्दूर से दिशाएँ सब;
रँग रहा सागर की सुन्दरी की नीली माँग,
कुन्तलों से खेलती जो छाया डाल प्रेम की।

मेरे मंजु हास से प्रकाशित विलास केलि,
भूल गई, भूल गई आज मैं, अभाव सब ?

सुभ्रु—

[प्रसन्न होकर]

ऐसा सुख यौवन का चिर चिर काम्य सखि ?

मत्स्यगन्धा—

तृप्ति है असीम सुख, तृप्ति है अनन्त मधु
वही मैने पाया आज यौवन के स्वर्ण द्वार;
यौवन है स्वर्ग धाम, यौवन अहेय काम
आज मेरे यौवन का अन्त-हीन मध्य काल।

सुभ्रु—

रह क्या सकेगा यह एक ही प्रकार से ?

मत्स्यगन्धा—

हाँ हाँ, वह वरदान हुआ सत्य आज ही तो
कोई भी न काम्य आज, कामनाएँ दासी मेरी
सभी की सुशासिका 'सद्गुरिणी है सत्यवती।
आज चिर यौवन की ताप हीन नाव चढ
बनी अलबेली घूमती हूँ अविरुद्ध पथ
जीवन की सरिता में डाँड डाल ऊर्मि सुख;
मुक्त नभ, मुक्त काल, छन्द बन्ध तोड़ छोड़,
यतिहीन कविता सी, बाधाहीन सरि धार।
—आगम के चिन्तन में मग्न-मूक विधाता सा
मेरा मौन अतिरेक सुख के अनुभाव का,

सिद्धि का, समृद्धि का अनन्त अभिलाषाओं का
और तृप्ति प्राप्ति का भी रश्मि सिंदूर सा ।
—मेरे ही यौवन का प्रकाश 'शीतरश्मि' लिये
पृथ्वी का पुलक पल चूमता है झूम झूम
और मंजु मुक्तादल पल्लव हृदय डाल
पुष्प कलिका की चिर आशाएँ संजोता नित ।
—मेरे ही यौवन का प्रकाश उग्र रश्मि लिये
जीवन मे रस का प्रभाव भरता है नित;
औ' अनादि सुन्दरी उषा के ऽनिन्द्य आनन को
चूमने की लालसा में दौड़ता-सा दीखता;
आज भी तो संध्या के सुनील लाल पाटल से
अधर,. उरोज दल चूमने को, छूने को,
पाने को सहस्र गुण वेग से, त्वरा से भर
दौड़ता ही रहता अविलम्ब कामना सा घन ।
क्या न यह यौवन का भाव भूरि सखि, रहा
जिसमें न कही गति, विरति, विवेक लेश ?
किन्तु मैं तो मानती हूँ यौवन है वरदान
जीवन में मिलता जो यौवन, अहेय सखि ?
शैशव अचेत मुग्ध अति भोले जीवन का
जिसमे न अपना, पराया फिर होगा क्या ?
वहाँ शिशु खेलता है बाधा-हीन लघु, लघु
अविकल्प भावना से जीवन के तट पर,
केवल है खेलता पदार्थ के खिलौने लिये
जो न वस्तुत. गल्प सह शिशु पूर्ण रूप ।

बालक भी बालक है रस में, विलास में भी
केवल उमंग वह खेलने में, खाने में।
बालक है सीढ़ी एक जीवन के लक्ष्य हेतु
यौवन ही जीवन का एक मात्र ध्येय सखि ?

सुभ्रु—
और वह जरा—?

मत्स्यगन्धा—
—हाँ, जरा है पतझड़ ही तो,
सब कुछ जिस में, प्रभोग्य कुछ भी नहीं।
वह तो है जीवित सा सपनों की याद लिये
एक कंकाल मात्र जर्जर, रसहीन
वह तो है स्वर्ग भ्रष्ट पतित त्रिशंकु जैसा
याद जिसे वह सुख यौवन का एक मात्र
और जो न भोगता है अक्षय अथ च रुग्ण।
वह तो है मृत्यु और यौवन का संधिकाल
निर्वासित यौवन से भोग्य, मृत्यु-रुद्र की।
किन्तु मैं तो यौवन की अजस्र रस धार ध्रुव।
मेरे लिये जरा नहीं, मृत्यु नहीं, रति है
फिर फिर नव नव यौवन का कलरव
गूंजता रहेगा सदा अभिनव अभिनव
मैं अनंत स्रोतस्विनि मैं अनंत ऊर्मिमाल

सुभ्रु—
अरे हाँ, हाँ, याद आया मैं तो भूल ही सी गई
हुआ जो अनर्थ कहती हूँ आज हाय, वह।

मत्स्यगन्धा—

क्या हुआ कहो तो कुछ, क्या अनर्थ, कैसा हुआ ?

सुभ्रु—

आज महाराज लौटे जैसे मृगया से तभी
सुना गया बेसुध है संज्ञाहीन विक्षत।

मत्स्यगन्धा—

[चौंककर]

कैसे यह हुआ कैसे……?

सुभ्रु—

—कहते हैं मृगया में
सिंह ने प्रवेग किया आक्रमण भारी एक
और महाराज थे असावधान उस काल
ध्यान में किसी के और (हँसकर) कदाचित आपके !

मत्स्यगन्धा—

नहीं, नहीं, ऐसा भी क्या किन्तु यह हुआ बुरा
क्या न अभी संज्ञा हुई, काँपते हैं अंग मम ?
चलो चलें, चलो चलें…

सुभ्रु—

—आओ चलें देखें उन्हें।
जाने सुमनों में काँटे किसने उगाये तीव्र ?

मत्स्यगन्धा—

सत्य ही क्या यौवन के अन्तर में कंकाल
नाचता है गुपचुप धूमिल सी रेख डाल ?

[चली जाती है]

छठा दृश्य

समय : सायंकाल

[विधवा सत्यवती प्रसाद के शिखर पर खड़ी है । क्षितिज की रक्त रश्मियाँ उसकी लटों पर चमक रही हैं, बिखरे हुए बाल हैं और अस्त-व्यस्त वस्त्रांचल ।]

मत्स्यगन्धा—

यौवन के सागर का अन्त ही नहीं है कहीं
मेरा मन तूफानों में उड़ा हुआ जा रहा ।
मेरा स्वर्ग हीन हुआ हाय, पुण्य, पाप बना
आशा औ' उमंग हुई भार हैं अनन्त की ।
चण्ड रवि रश्मि उग्र कौन भर गया हाय,
दाहक अनल ध्रुव मृद तन मन में ?
यह अति वेगमय, यह अति दाहमय
बनी क्रूर काल की कराल अग्निमालिका;
जो न बुझती है निन्य धाँय धाँय जलती है
काम अंबु पाके भी न होती है विफल सी ।
जलती हूँ रवि सी, अनन्त पाप पातकिनि,
जलती हूँ अग्नि सी प्रलम्ब देह-यष्टि ले
'यौवन अनन्तदान यौवन अनन्तमान ।
अभिशाप वरदान, अपलाप वरदान ?'

नभ भ्रष्ट तारिका सी घूमती प्रकाश लिये
धूमकेतु धरा की प्रवुद्ध धूम - वाहिनी।
मेरा मन अग्नि - अश्रु बरसा न शान्त होता
द्विगुणित वासना भड़कती हुताग्नि सी।
हन्त, हत यौवन का अन्त-हीन यह वेग
धूमिल निविडतर घोरतर घनतर।
हे महान् ऋषिवर पराशर, क्यों दिया था
वर यह खर तर। आग क्यों लगाई देव,
वल्लरी सुमालती में खिलते ही खिलते ?
हाय, यह उषा नित आती बरसाती आग
रक्त सा उबाल देती देह का छनन छन।
और भूनता है यह चण्ड रवि अस्त तक।
संध्या प्राण तार खींच क्षितिज में हँसती।
यामिनी, न पूछो यम गर्जना-सी करती है
पीड़ाओं का मूर्त रूप देती और दाहती।
नख से शिखा तक चेतना से क्रिया तक
प्राण से हृदय तक वेसुधी सी झूमती।
घूमता शरीर यंत्र, घूमते नगर, ग्राम,
घूमता है नील नभ जगत अलात सा।
घूमते हैं चन्द्र, रवि, तारक अति-प्रवेग
घूमता है विश्वदण्ड भ्रम, त्रिमे भ्रम का।
अरे, कब अन्त होगा मद का प्रमाद का भी
सागर सी ऊर्मियों का, क्वथित तरंग का ?
भूली नाथ, भूली नाथ, ले लो यह वरदान।

लौटाओ; लौटाओ प्रभु, क्षण भी युगान्त है।
यौवन का वेग ऐसा प्राणहीन देखा कब ?

[अनंग का प्रवेश]

अनंग—

देखा अब कैसा लगता है ओ तरंगिणी ?

मत्स्यगन्धा—

[आगे बढ़कर]

हाय तुम, अरे तुम ?

अनंग—

[हँसकर]

—मैं अनंग विश्वरंग।

मत्स्यगन्धा—

तुम मेरे अभिशाप, जीवन के अपलाप,
ले लो, लो दिया जो ले लो, अविलम्ब हे अनंग,
है असह्य भार यह दुर्वह प्रचण्डतर
दण्ड लघु कार्य का अमेय है, महान् है।

अनंग—

राका रस बरसाती अमृत किरण डाल
ग्रीष्म रवि रश्मियों से सृष्टि का प्रपाक है।
शरद वसन्त का विलास सृष्टि सुख हेतु
पावस शिशिर का प्रवाह भी महान् एक
लक्ष्य लिये चलता है। यही क्रम जीवन का
यौवन भी जीवन का एक अति मृदु पल
विश्व दृढता के हेतु प्राप्त है जगत को।

विश्व के महान् कार्य-यौवन प्रसाद सुन,
अघनाश में भी यह यौवन प्रभास है।
राजनीति, धर्मनीति, मुक्त औ' समाजनीति
यौवन की सीमा में विहरते सफल से।
पियो, सुखमद यह यौवन का तृप्ति-हीन,
तृप्ति-हीन प्राण अभिषिक्त हों विलास से।
तोड़ दो नियम जाल अनुदेश मेरा यह
सृष्टि का समग्र सुख उठो राह देखता।
पिओ कण्ठ तक, पिओ होठों से ढाल-ढाल,
यौवन महान् है, अलभ्य है जगत में।
विश्व डूब जाये, भूति, विभव भी डूब जाये
प्रिये, पिओ अमृत अजर मग्न मग्न हो।

मत्स्यगन्धा—

हालाहल यह मधु पीना है कठिनतर
जीना है कठिनतम दारुण विपत्ति सा।
ले लो यह वरदान, (ले लो यह अभिशाप,)
लौटाओ अनंग यह वेदना समुद्र सी।
सीमा-हीन, अन्त-हीन, मन-हीन, प्राण-हीन
व्याहृति विहीन स्वर्गसुख साध - हीन सी।

[आँखें बन्द कर लेती है]

अनंग—

आजीवन यौवन का वरदान हे सुमुखि,
कब न हुआ है भार यौवन विफल का।

यह तो रुदन तेरा अन्त-हीन फल-हीन
आजीवन वेदना से जड़ित अपंग सा।

[प्रस्थान]

मत्स्यगन्धा—

हाय, मेरे जीवन का कैसा यह अपरूप
अपमान, तृप्ति है न अन्त है अनंग रंग ?

[आँखें खोलकर देखती है—कहीं भी कुछ नहीं है। चारों ओर से बादल घिर आये हैं, सूर्य छिप गया है और घटाटोप अँधेरा छा गया है।]

डूबो नभ, डूबो रवि, डूबो शशि, तारिकाओ,
डूबो धरे, वेदना में मेरी ही युगान्त की।

[एकदम मूर्छित हो जाती है। सब ओर सन्नाटा छा जाता है।]

★

राधा

पात्र

राधा : स्त्रीत्व का प्रतीक
प्रेम, रूप, भक्ति, श्रद्धा, विश्वास का सम्मिश्रण ।

श्रीकृष्ण : अनिवर्चनीय रस स्रष्टा ।

नारद : भक्ति का अहम् ।

पहला दृश्य

समय—प्रातः आठ बजे

[निर्जन निकुंज में यमुना के तीर पर पुष्पों का मकरन्द उड़-उड़कर पवन के प्राणों को पुलकित कर रहा है। शैशव की भोली स्मृतियों की चादर को स्वप्न की तरह हटाकर कलियाँ कुसुमों के रंग में भर रही हैं। वर्षा के दिन हैं, सूर्य भी निकला है; और पश्चिम की ओर से सघन घटा तूफान की तरह उठ रही है। बीच-बीच में इधर-उधर छाये बादलों में स्वप्न की सत्यता की तरह सूर्य निकल आता है और यमुना के नीले जल पर तैरकर सूरजमुखी की तरह उसे पीला कर देता है। निकुंज में सब ओर पुष्पों, वृक्षों, लताओं, पौधों ने स्नान करके अपनी स्वाभाविक कान्ति को धारण कर लिया है। वहाँ उस समय सौन्दर्य की तरह उज्ज्वल और रमणीय, मद की तरह मस्त धीरे-धीरे एक रमणी आती है—धानी रंग की साड़ी पहने। हवा के हलके झकोरों से उसकी साड़ी हिल रही है। उसकी आकृति और छवि को देखकर ज्ञात होता है कि वह उस वातावरण से प्रभावित हो रही है। इधर देखती है, उधर देखती है। कभी एक फूल को तोड़ने बढ़ती है तो मानो उससे चिपट जाती है। तोड़ने का विचार छोड़कर वह उसे देखती ही रहती है, फिर यमुना की ओर देखती है। कभी-कभी आ पड़ने वाली काले कपड़े पर पीली छींट की तरह सघन छाया को निहारती है। फिर फूल तोड़कर सूँघती है, फिर सूँघती है। धीरे-धीरे उसकी आकृति किसी याद में गम्भीर हो उठती है। सारी सौन्दर्य-लालिमा, सम्पूर्ण चंचलता मानो चित्रपट की तरह धीरे-धीरे बदल रही हो। अवस्था से अधिक गम्भीर वह रमणी एकाएक यमुना के किनारे बैठ जाती है—मूक, अर्धचेतन-सी

केवल स्वप्न की मूर्ति-सी अर्ध-जाग्रत; पैर यमुना के जल में, हाथ लहरों को थपथपाते हुए, ध्यान बिखरा हुआ। अचानक गाने लगती है।]

[गीत]

हो गया यह हास मेरा सब कहीं उपहास क्यों ?
मैं तिमिर में खोजती हूँ हृदय का उल्लास क्यों ?
मुक्त तारक-निचय ऊपर
खेलते खुल गगन भू पर।
रे, धरा का दीप बन जल चाहता आकाश क्यों ?
बूँद सा अधिकार तेरा,
चमक लघु, पर गुरु अँधेरा,
मन अँधेरे में उजेले की रहा कर आस क्यों ?
हृदय की कहने न पाती,
उमँग उठती बैठ जाती,
मैं रही हूँ दूर जिनसे वह बुलाते पास क्यों ?
हो गया यह हास मेरा सब कहीं उपहास क्यों ?

[इस गीत की ध्वनि मानो प्रत्येक प्रकृति-प्रान्तर से प्रतिध्वनित हो उठी है। वह चारों ओर देखती है। इतने में बादल जोर से गर्जने लगता है। उसी भाव से—]

उठ रही घनघोर काली-व्यालिनी बदली मनोहर,
एक पुंजीभूत दुख सी मूर्ति सी नैराश्य की बन
छीनती सी हृदय का सब स्वच्छ सुख-कादम्ब मेरा;
भूधरों के शिखर पर मोती हुई सी करवटें ले
आँख से आँसू भरे, मन में विरह की ज्वाल-माला
उभर उमड़ी आ रही है घन जागता नाग फन-फन ।

उधर वह रवि हँस रहा है फुल्ल, पुलकित, लाल, पीला
क्षितिज की मृदु गोद से उठ विलन्नमुख अनुराग गीला
चूमता मुख किसलयों का, कुसुम का अनुरक्त आनन ।
मृदु मदिर मकरंद पीती जा रही हैं ये सुनहली—
अप्सरायें सुतनु चंचल कौन जाने, कौन आशा,
कौन जागृति, कौन सपने, कौन वाणी, कौन सा सुख
हृदय में अपने छिपाये, प्राण में अपने पिरोये,
श्वास में अपने भिगोये मन्द-मन्द सुगन्ध सुन्दर ?
सुलघु पल सी; लाल, पीली औ' लजीली स्वप्न घन सी
तैरती हैं ज्यों कहीं से ला रहीं संवाद मीठा,
और यमुना की लहर में, प्राण में छिप भर रही है
प्रेम का ध्रुव मिलन, प्रतिदिन हृदय का कण-कण सुमिश्रण
लहर से किरणें मिलीं ज्यों हृदय से जलता हृदय हो ।
पर न जाने मैं किसी के स्वप्न सी क्यों खो रही हूँ
आस ले, अनुराग ले, उत्ताल मानस में प्रलय भर;
किसी घन के विन्दु सी किसलय, कुसुम, तृण, ताल में गिर
और गिर अंगार पर स्मृति-चिन्ह हाहाकार का ले ?
इस नदी की लहर सी टकरा रही, छितरा रही हूँ
और बहती जा रही अज्ञात पथ में भूल सब कुछ,
भूल सब अपना पराया स्मृति विफल का भार लेकर
ढो रही हूँ, क्या न जाने, क्या न जाने खो रही हूँ ?
कर दिवसकर जग प्रकाशित स्वयं जलता जा रहा है,
पर न आलोकित किया मैंने किसी को स्वयं जलकर ।
एक मृदु मुसकान उस दिन की समाई प्राण में है

जो हृदय को छाल क्षत सी उभरती अनुराग मंडित ।

[विशाखा का प्रवेश]

विशाखा—

आज जीवन की उषा में हृदय में औदास्य भरकर
तुम निराले ढंग से क्या सोचती हो मलिन तनमन ?
विश्व का उद्गार, वैभव समुज्ज्वल सुख साधना का
क्या तुम्हें आनन्द सा उद्‌बुद्ध करता है न कुछ भी ?
यहाँ, इस एकान्त में अत्यन्त निर्जन में सुमुखि, क्या ?
विश्व अनुपल जगमगाता और हँसता स्वर्ग सा प्रिय
देख पड़ता कुछ न तुमको भरा सा सुख रागमय यह ?

राधा—(मदालसिता सी)

हम किसी के स्वप्न की सुख राशि सखि, यौवन प्रखर की
लालिमा, अत्युग्र मानो किसी कवि की कल्पना बन
उतर आई स्वर्ग से अपवर्ग के आनन्द में सन;
और धीरे उमड़ती सी मद भरी बदली उभरती
छा गई हो गगन-जग में कहीं से उड़, कहीं से बह;
वही हम । छल छल छलकता प्यार से भीगा हुआ सा
स्नेह सा मीठा, हँसी सा शुभ्र, तारक सा चमकता
मधुर जीवन क्या न जाने बोलता मीठा मृदुल री,—
स्रोत, सरिता, उदधि, तारक, कुसुम सार्थक जिसे पाकर
वरद के वरदान सा आकण्ठ तृष्णा तृप्त जीवन ।
किन्तु मैने क्यों न पाया वही अक्षय स्रोत-आकर
कह रहा है साध को जो सो रही थी जागकर भी ?
हा, न मैं वह भूल पाई एक छवि जो दृष्टि में आ

कहीं रोमों में समाई, विकल प्राणों से विखरकर
मुझे ही विक्षत किया सखि, मुझे ही पीयूष घन दे।
मैं नदी सी वह रही थी स्वयं अपने बाहु के ही
दो बनाकर, दो किनारे। मग्न थी अपने हृदय में,
मग्न थी बहती चली ही आ रही अनजान पथ से
कुछ न लेकर, कुछ न पाकर; एक केवल आस थी यह
अन्य जन सी भव-उदधि से पार होऊंगी, कभी हँस,
कभी रोकर भी विता दूंगी विशाखा, विरह सा यह
दीर्घ-जीवन-महापथ परिचित न होकर भी किसी से ?

विशाखा—

तो हुआ क्या ?

राधा—

क्या हुआ, मैं मग्न थी अपनी लहर में
पर न जाने दृष्टिपथ में आ गए वे क्या कहूँ री !
वज्र-कीलित से हुए उत्कीर्ण से मेरे हृदय में।
गाय बछड़े स्तब्ध थे, नीरव दिगन्त, दिशान्त, नभ भी
एकटक सब मूक से, जड़ से, जड़ित से, द्रवित से,
लघु से, रहित-जीवन सभी जलचर गगनचारी दिखे,
हुआ क्या उस समय सबको पुतलियों सा हो गया जग;
ज्यों नचाती हो कहीं कोई अपरिमित शक्ति लेकर
ध्रुव, अटल, मनहर, चराचर की वशीकर राग प्रतिमा

विशाखा—

कृष्ण के सम्बन्ध में यह कह रही हो प्रिय सहेली,
सह्य होगा क्या जनक को कंस का सामन्त है जो,

है जिसे मर्याद प्रिय औ' धर्म का पालन महाप्रिय;
धर्म के हित जिसे जग भी हेय अनुपादेय राधे ?
कहेगा, 'यह वंश द्रुम दावा लगाने जा रही है
शुद्ध सन्तति आज उसकी, व्यर्थ में कुल कर कलंकित।'
कहेगा, 'केवल पिता का वंश ही इससे न दूपित
महाकुल सम्भ्रान्त पतिका भी कलंकित हो गया है।'
कहेगा, 'आदर्श बनना चाहिए था, चाहिए था
व्रज समस्त कुलांगना को महा पातक से बचाना;
और इस अंधे प्रमादी उग्र यौवन से न जो कुछ
देख ही सकता न सुनने का जिसे अभ्यास कोई ?'

राधा—

जानती हूँ सखी, यह सब, वश नहीं है किन्तु मेरा।

विशाखा—

भूलने वाली नहीं थी भूल जाने क्यों गई है!
हाय, भीगे बिना क्या सखि, भव-नदी तैरी न जाती ?

राधा—(विवश-सी होकर)

क्या करूँ, कैसे करूँ, सब कुछ हुआ विपरीत जीवन,
कूप पर जाती कलश ले नीर लेने हेतु जब मैं
पैर ले जाते मुझे अनजान में यमुना नदी तट।
क्या तुझे कुछ भी न होता, यह मुझे क्या हो गया है ?

विशाखा—

हाय, कितना सरल, कोमल, तरल है नारी-हृदय यह
दूध सा मीठा, धवल, निश्छल बनाया कौन विधि ने
जो पिघलता स्वयं गल-गल प्रेम औ' सौन्दर्य पाकर

और खिलता है कुमुद सा स्वयं ही विधु प्रिय निरखकर
देखता कुछ भी न कोई नियम-बंधन धर्म जग का !

राधा—

मुझे क्या था ज्ञात मेरा सुख बनेगी द्वन्द्व-दावा
और जीवन का विरस जलकर जलाती ही रहेगी !

विशाखा—(पास जाकर)

सखी, तुझसे क्या कहूँ जाने विधाता ने लिखा क्या ?

राधा—

उस मुकुट छवि माधुरी पर सभी कुछ अर्पण हुआ है।

विशाखा—

मानवी क्या दानवी, देवी, नगी, सुर, असुर, किन्नर,
यक्ष औ' गन्धर्व जाने मूक से क्यों हो गए हैं ?
गान सुनकर तरु-लता, नद-नदी, जड़; नक्षत्र-भूधर
भूल मानो सब गये हैं। कौन जाने स्वर-लहर वह
कौन जादू से भरी है प्रणय के निश्वास भीगी।

राधा—(जागती सी)

सभी अन्तर में वही छवि, सभी प्राणों में वही स्वर,
सभी भावों में वही धुन, सभी गीतों में वही लय,
वृक्ष जैसे मूक से मृदु तान सुनने को समुत्सुक,
नदी जैसे तृपित सी, लहरें महा आकुल भ्रमित-पथ,
प्राण हो सब विश्व का केवल जड़ित उस मुरलिका में !
सुना मैने बहुत दिन देखा कि जब डूबा हृदय भी
प्राण जीवन-माधुरी की लहर में घुल घुल गया मिल !
कौन सा माधुर्य लेकर धरा पर उतरा कि उसने

बना डाला जगत पागल, व्यथित कर डाला हृदय री,
और मथ डाले पुराने सभी वे संस्कार संयम,
पीस डाली रूढ़ियाँ औ' ढहा डाले नियम जग के !

विशाखा—

हम विशद ध्रुव सत्य सी पति-भक्ति की मर्यादा वाली
चली आती थी न जाने कहाँ से इतिहास सी बन
चित्र सी, निर्बाध सरिता सी, असीमित रागिनी सी।

राधा—

देखती हूँ सभी बन्धन, शक्तियाँ, मर्याद, सीमा,
अवधि सारी तोड़ डाली इस अलौकिक व्यक्ति ने आ !

विशाखा—

क्या कहूँ किससे सखी, मैं भूल सारे नियम बन्धन,
छोड़ जग-आचार-लज्जा घूमती ले हृदय विह्वल
रात-दिन, संध्या-सवेरे, दुपहरी इस कुंज-वन में।
गूँजती है कान में ध्वनि, प्रतिक्षण वह रूप, वह छवि
नेत्र में। सब खो गया है, हो गया है कृष्णमय जग।

राधा—

तब न मै ही हूँ अकेली सब कुसुम ही शूल सहचर।

विशाखा—

अभी उस दिन घूम फिरकर देर से लौटी जभी घर,
देख माता ने भयंकर भर्त्सना की, काँप गया मन,
डाल निशि भर घुप अँधेरी कोठरी में अन्न-जल बिन
मार कोड़ों की लगाई प्राण तक भी तिलमिलाये,
पर न फिर भी भूल पाई उसे, मानस प्राण धन को।

मुक्त होते ही चली उस ओर, फिर भी उसी घर को।
'यह कहूँगी', 'यों कहूँगी' नई गढ़ कर बात उनसे
किन्तु भूली देखकर छवि, मुस्कराहट सभी सुध बुध।
और जब पूछा यशोदा ने कि "क्यों आई यहाँ फिर
जननि तेरी गालियाँ सौ-सौ सुनाकर अभी लौटी ?
क्या बिगाड़ा कृष्ण ने सबका कि उससे क्रुद्ध जग है ?
सभी आतीं ग्वालिनें अभियोग लेकर नित्य नूतन
और पाकर कृष्ण को संकेत से मानो बुलातीं,
मुझे लखकर गालियाँ देतीं, उलहने भी सुनातीं
हैं उसी के ? क्या कहूँ मैं हैं विकट अभियोग सुत के !"
कृष्ण से कहने लगीं—"सुत, हैं तुम्हारे शत्रु सारे।"
फिर अचानक वज्र सा आकर लगा पाया कि उसने
कृष्ण के सँग बात करते और हँसते मुसकराते;
धरा सी खिसकी पगों से मैं प्रभाहत और लज्जित
हो गई पानी, भगी लेकर मनोरथ अधफले ही।
खोजती हूँ तभी से इस कुंज में आकर निरन्तर
दृष्टि भरकर छवि निरखने और ध्वनि सुनने जड़ित सी
देखती, मैं ही नहीं, यह जगत सारा हुआ पागल।

राधा—(सूखी हँसी हँसकर)

धन्य तू हँस बोलती उनसे ललककर प्रिय विशाखा !
हाय, लज्जा स्नात सी, जकड़ी हुई, जीती मरी सी
मैं न उनको सुना पाई दृष्टि भरकर सामने हो
हृदय की गाथा सखी, जो गूँथ युग से थी सहेजी।
क्या न कोई यत्न ऐसा—

विशाखा—

प्रिय मिलन दर्शन निरन्तर !

राधा—

चाहती हूँ,

विशाखा—

पर विपम उस मार्ग पर चलना पड़ेगा।

राधा—

यही बस, मै लाज तज, मर्याद बन्धन तोड़, कुल जग,
त्याग सब कुछ बन वियोगिनि मुक्तजीवन हो सकूँ री।
है यही इच्छा मुझे प्रिय, है यही कांक्षा मुझे सखि !
ब्याह से ही पूर्व बचपन में मुझे ऐसा लगा अलि,
है न कोई पति हमारा औ' न हम नारी किसी की,
किन्तु विधिना ने न जाने क्यों मुझे फिर बाँध डाला
जगत बन्धन में। न कोई किसी का बन्धन मुझे प्रिय।
दम्पती के धर्म का पालन न मैं कर पा रही हूँ,
पति वियोगी मैं विनिस्पृह, आज तक दोनों अपरिचित,
अमरवल्ली सा न जाने कौन तरु जीवन हमारा।
नाव पर बैठा दिया है अपरिचित मल्लाह की री,
पार करने को मुझे संसार सागर, कौन जाने
कौन वह, मैं कौन, केवल एक झोके से मिले हैं ?

विशाखा—(आश्चर्य से)

देखती पीयूपधारा मेघ से होकर समुज्झित
मचलती आकाश से उन्मुक्त उतरेगी धरा पर
और जीवन में अनक्षर सुरभि सी भरती हृदय को।

राधा

विश्व की वासन्तिका में अमरवल्ली हो रहेगी ।

या कि फिर निःशेष हो, गिर तुहिन सी दल किसलयों से,

भर्त्सना की व्याल जिह्वा का विषम विष हो जलेगी !

आ चलें, देखें किधर, उन्माद ले जाता कहाँ पर

मूर्त सा, उन्मूर्त सा, विश्वास की आराधना को ?

राधा—

हाँ चलो, यह हृदय का द्रव वह चले उस ओर, उस पथ,

जहाँ जीवन-गर्त्त में तैरा करें, डूबा करें री !

दूसरा दृश्य

समय : पूर्णिमा की रात्रि का प्रारम्भ

[उसी निकुंज में यमुना का तट। वर्षा के बाद सब कुछ धुल सा गया है। सब ओर हरियाली दिखाई दे रही है। मोगरा, गैंदा, मालती, गुलाब के फूल खिले हुए हैं। उनकी सुरभि से सम्पूर्ण प्रदेश महक उठा है। यमुना के किनारे वट का एक वृक्ष है, जिसकी सघन छाया में पूर्णिमा के चन्द्रमा का प्रकाश छन-छनकर गिर रहा है। अवकाश में प्रकाश का रूप कहीं गोल, कहीं चौड़ा, कहीं त्रिकोण, कहीं चतुर्भुज होकर पड़ रहा है। सामने यमुना बह रही है। उसकी धार पर चन्द्रमा की किरणें चाँदी की वक्र नालिकाओं के समान दीख पड़ रही हैं। कभी-कभी ऐसा दीख पड़ता है मानो यमुना का सतह पर किसी ने चांदी बिछा दी हो या कहीं से अनन्त हीरक-राशि लाकर उड़ेल दी हो या नीले जल पर किसी ने स्फटिक का बुरादा बिखेर दिया हो। वहीं कुछ हटकर शुभ्र प्रकाश में कृष्ण वंशी बजा रहे हैं। कोई पास नहीं है फिर भी ऐसा देख पड़ता है मानो जल का देवता वरुण तथा वृक्षों की अधिपति वनदेवियाँ अपने सम्पूर्ण यौवन-प्रहरियों के साथ शिथिल सी, अलसाई सी वर्तमान हैं। कृष्ण का रूप उस समय के आकाश के समान स्वच्छ और मधुर, सिर पर मुकुट, पीठ तक लहराते हुए बाल जो काली रेशमी डोरी से बाँध दिए गए हैं। प्रशस्त ललाट, चमकता मुख, उभरी नुकीली नाक, बलिष्ठ बाहु, सुता हुआ गठीला शरीर, न बहुत लम्बा न छोटा कद। कमर में फेंटा कसा हुआ, पीला तथा रेशमी वस्त्र, भोली भाव-भंगी, ज्ञान-मण्डित मुखाकृति, सरसता और सरलता तथा सौन्दर्य के अवतार। वंशी में जैजैवन्ती राग बज रहा है। स्वरलहरी मानो उस सम्पूर्ण प्रदेश में प्रतिध्वनित हो रही है। केवल वंशी का स्वर है और सब मूक। वंशी

बजते-बजते इतनी तन्मयता छा जाती है कि पक्षी जो कभी पहले चहक उठते थे वे भी चुप हो गए हैं, मानो किसी ने उन्हें मन्त्र-मुग्ध कर दिया हो और सौन्दर्य-सरसता का सम्पूर्ण चित्र वन का वह भाग हो गया हो। वंशी बजती ही रहती है और देख पड़ता है गायें भागी चली आ रही है और आकर कृष्ण के पास खड़ी हो गई हैं—चुप। बछड़े जो कुछ गायों के पीछे दौड़ रहे थे, रंभा भी रहे थे, आकर एकदम चुप हो गए हैं। उन्होंने दूध पीना छोड़ दिया है। पवन की लहर, यमुना की तरंगें मानो वंशी की लय पर ताल देने लगी है। इसी समय वेग से दौड़ती हुई राधा आती है। अस्त-व्यस्त वस्त्र, चंचल किन्तु उद्विग्न मुखाकृति। वयस यौवन के उभार पर, दूध सा श्वेत शरीर, रति मानो संसार के समस्त सौन्दर्य से प्रफुल्लित होकर उसी एक रमणी में साकार हो गई हो। वर्णनातीत सौन्दर्य, शैशव सा भोलापन, समुद्र सा गाम्भीर्य, पर्वत-सी स्थिरता और नदी का-सा वेग हृदय में भरा है—किन्तु उस पर भी शान्त। निकट आकर मन्द गति धारण किये और फिर सामने स्थिर रहकर मूक हो जाती है। उसकी चेष्टा से मालूम होता है कि वह दौड़ती हुई चली आ रही थी, किसी आकर्षण से खिंची चली आ रही थी और पास आकर सब कुछ भूल गई है। उसके हृदय में समुद्र का ज्वार था जो कृष्ण को देखकर भाटे के समान शान्त हो गया है। वह मूक है, निर्वाक् है, स्थिर है और वंशीमय हो रही है। दोनों आमने सामने खड़े हैं। राधा वंशी-स्वर में तल्लीन है कि वह आंखें फाड़े हुए कृष्ण को पूरी तरह नहीं देख पा रही है, केवल वंशी का स्वर ही सुन रही है। उस समय उसे न यमुना दिखाई देती है, न वन का सौन्दर्य, न चन्द्रमा का प्रकाश। कृष्ण भी वंशी में तन्मय हैं। अंग-प्रत्यंग की चेतना मानो वंशी मय हो गई है। एकाएक वंशी बजाना बन्द हो जाता है, बहुत देर दोनों आँखें बन्द किए मूक से खड़े रहते हैं। कुछ समय के बाद—]

राधा—

मग्न जीवन-निविड़-तम में प्रकाशित मीठी लहर से

कौन तुम अनुरागसागर, कौन तुम मन्थन हृदय के ?
अरे बोलो, प्राण बोलो, तान ऐसी छोड़ दी क्यों,
सभी जृम्भित गात्र मेरा, सभी कम्पित विश्व कानन,
अंग रोमांचित हुए हैं, रोम हैं उद्‌बुद्ध-चेतन,
सुन रहे रह-रह प्रमाथी अग-अंग समुर्वरित-से ?

कृष्ण—(सरल स्वभाव से)

विश्व-कणकरण में सुवासित व्याप्त है पीयूष-सरिता
जो हुई प्रच्छन्न नर की कालिमा से, छल-कपट से,
उसी को जाग्रत किया है प्राण ने वंशी-लहर से ।
तुम पियो, यह जग पिए, अक्षय मधुर-रस प्राण-पावन
हृदय में भरता रहे उच्छ्‌वास की गति सी मनोहर ।
मैं चहर हूँ एक उसकी, उसी सुख की, उसी स्वर की ।

राधा—

किन्तु रह-रह मथन करतीं क्यों हृदय को यह हमारे,
क्यों हमारे प्राण में मानस-विषय उठते इसे सुन ?
क्या नहीं व्रजमात्र में यह मुरलि की ध्वनि और सुन्दर,
आपकी छवि हमें उस अग्राह्य पथ का पथिक करती ?
क्या न तुम व्रज की कुलीना अंगनाओं को लुभाते
वेणु मीठी सी बजाकर मनोहर एकान्त में आ,
इस निशा में, यहाँ तट पर; है जहाँ सन्देशवाहक
विहग का रुत, सुमन-मारुत, दुग्ध-फेनिल इन्दु-किरणों,
पुष्प का सौन्दर्य सुरभित द्विगुण, शतगुण, प्राणकर्पण
मन्दमद मकरन्द विह्वल हृदय मथने को चतुरतर

और उन अज्ञान ललना-जनों को है खींच लाता
जो न कुछ भी जानती हैं हेय क्या, आदेय क्या है ?

कृष्ण—(अट्टहास करके)
अरे, यह अभियोग व्रज की अंगना का आज सुनकर
मुग्ध वनमाली हुआ है क्षुब्ध औ' अक्षुब्ध दोनों,
दोष इसमें है न मेरा—

राधा—(खीझकर)
सत्य है अपराध उसका
जहाँ वन के चतुर्दिक दावा लगाकर छोड़ देना,
नर अकेला हीन-साधन, भ्रष्ट-पथ, फिर उसे कहना,
यह जडितमति क्यों घिरा आ—

कृष्ण—(हँसकर)
नदी का अपराध ही क्या
जो वही जाती प्रकृत गति उफनती, चढ़ती, उतरती
एक अपनी ही दिशा में सजल करने दग्ध जग को
यदि वहाँ अज्ञान कोई जानता है जो न तिरना
कूदता गहरे सलिल में उभरने की साध लेकर ?

राधा—(उसी भाव से)
हे चतुर, अभियोग हम पर यह लगाया आपने है,
मुग्धमति अनजान नारी जिन्होंने कुछ भी न देखा,
एक केवल, एक सीढ़ी पार ही जो कर सकी हैं,
और जो कुछ भी न जाने हृदय-अर्पण की क्रियाएँ ।
यह न क्या है उस तरह, शिशु-हाथ में दे अस्त्र कोई,
व्यर्थ ही विश्वास उसका, कर न अपना काट लेगा ?

हम समझती हैं नगर की नारियाँ भी देख छवि को
हृदयाकर्पक वेणु की ध्वनि सुन समर्पण मन करेंगी।
आपकी यह भुवनमोहिनि छवि निरखकर कौन नारी,
कौन कुलना, कौन रमणी, धधकती जिसमें पिपासा,
विश्व की है जो न अपनी लाज-कुल-मर्याद तजकर
प्रेम पति का, पिता का, माता-बहन का, बन्धुजन का
त्याग होगी नहीं लज्जाहीन रतिगति-भ्रान्त युवती ?
कौन है वह जो उफनते हृदय के अनुराग को मथ
पथ-विपथ, अथ हृदय-मन्थन-भरे सागर से मनोरथ
विश्ववन्द्य अनिन्द्य प्रतिमा में न आकर लीन होगी ?

कृष्ण—

व्यर्थ है कहना तुम्हारा तनिक देखो, इधर देखो,
हरित भूधर, पूर्ण शशि, उत्तुंगमाली, अतल सागर,
उफनती सरिता, प्रतापी सतत-निर्झर, उषा सुन्दर,
सांध्य-लाली, क्षितिज-शोभा, धवल-रजनी, फुल्ल कानन,
मृदु-मदिर मकरन्द पावन, पवन मीठा, हिम-फुहारे,
प्रकृति के उपहार मंजुल, दग्ध के आधार सुखकर,
—क्या सभी ये प्राणदाहक, क्या इसी को जन्म इनका ?
विश्व का सौन्दर्य देखो, बह रहा छल-छल-छलकता
स्थूल से, लघु से, महत् से, धरा से, नभ से निरन्तर,
और कण कण में अपारानन्द-राशि बिखर रही है
प्राण सीमा को असीमित सरस सागर कर अधिकतर;
क्या न है उद्देश्य कोई प्रेम का, सौन्दर्य का भी

राधा—

प्रेम क्या यह नहीं, कहता जगत जिसको हृदय-तर्पण,
मन-समर्पण, तन-विसर्जन, प्राण प्रिय के चरण मे गिर ?

कृष्ण—

प्रेम अनुभव के पुलक में स्रोत सा आनन्द में भर
प्राण को, मन को न्हिलाता विसुध सा करके—तभी तक
प्रेम है वह शुद्ध राधे !
प्रकृति के सौन्दर्य से पुलकित हृदय-विह्वल बना सा
क्या न शुद्धानन्द देता मत्त सा करके जगत को ?
प्रेम आकर्षण, तथा आनन्द आत्मा की अलंकृति
उसे तन का दास बनने नही देना शुद्ध, सुन्दरि !

राधा—

किन्तु क्या यह प्रकृत-सम्भव ?

कृष्ण—

है न कोई कुछ असम्भव।
क्या न हम निर्माण करते निज नियति, गति आत्म-रति ले,
कौन सा है कार्य जो आहार्य कर सकता न मानव ?
धरा का कर हृद्विदारण सलिल इच्छित प्राप्त करता
और भूधर को शिखरयुत चूर्ण कर कण कण बनाकर
एक सम करके तथा सागर सभी मथ डालता है।

राधा—

क्या कहूँ, कुछ कह न पाती जानती भी तो नहीं हूँ।
जानती हूँ यही केवल गुनगुनाता है हृदय यह।
प्राण, मैं अंगारिका हिम राशि पर धुक धुक सुलगती

जल रही सौन्दर्य के मृदु गर्व में भर और भर कर
वह जलन, जिसके उजाले में पिघलतीं वे सुशीतल,
हृदय वल्लभ, स्नेह-कणिका जिन्हें चुम्बन हेतु आकुल
अथक उच्छल अवल आशा दिवस में निशि-स्वप्न पाती।
मैं विरह-सौदामिनी की ध्रुव तथा अस्थिर अमृत सी
अग्नि-मदिरा पी हुई साकार सब आकार भूली।
वह्नि-वीणा बन गई वंशी-लहर मेरे हृदय में।
प्राण के संगीत-गायक, मैं न कुछ भी समझ पाई,
ज्ञान-गाथा तर्कना युत, गहन औ' गंभीर बातें;
मैं न कुछ भी जानती हूँ, जानती हूँ एक केवल,
मचलने वाला मिला मन, मनोरथ जिसमें सहस्रों
किसी मधु में निमज्जित हो स्वप्न का संसार रचकर—
गा रहे हैं क्या न जाने समझ पाना कष्ट माधव !
चाहती, क्या चाहती हूँ, कुछ नहीं, पर चाहती हूँ,
एक तुम हो, एक वंशी, मैं सुनूँ, सुनती रहूँ निशि-
दिवस, पल-पल, पक्ष, ऋतु-ऋतु, वर्ष, युग-कल्पान्त तक भी।
है न मुझमें पाप कोई, शुद्ध सत्य, अनन्त, अतिबल।

[कुछ देर रुककर]

सत्य कहना है कन्हैया, तुम न साधारण मनुज हो,
इन्द्र के अवतार हो या वाम-काम-प्रपंच हो प्रिय ?
एक विधिना की न रचना, तुम्हारे सब कर्म न्यारे,
रूप वह जो दामिनी से भी अधिक उर्जस्व, वर्चस्,
काम से सुन्दर, कला के पूर्ण, अतिशिल, सुजान, निपुण,
चन्द्र से शीतल, मधुर, मोहक, हृदय से विदग्ध बनकर—

सत्य से सुस्पष्ट, मादक सुरा से, पीयूप से मधु,
यज्ञ से प्रति कर्म, हुत से ज्वलन, दावा से भयावह,
प्राण से अति सूक्ष्म संचालन, प्रचालन कर्म से गुरु
गहन गाथा हे अनिवर्चनीय माधव, ब्रह्म जग के !

[हाथ जोड़े खड़ी रहती है]

[कृष्ण अपनी स्तुति सुनकर उद्रेक की हँसी हँसकर मग्न हो जाते हैं]

राधा—(पिहोरे के ढंग से)

फिर सुनाओ वही वंशी-तान गायक, फिर सुनाओ,
सुनूं ले दृग के सभी आलोक पथ, उन्मुक्त चिन्ता,
हृदय-अन्त स्तर सुचेतन-तन्तुओं के द्वार दुर्बल;
पट कपट के, अन्ध-श्रद्धा, रूढियों के, बन्धनों के,
और नर की अन्ध-ईहा रचित विश्लथ खोल सब पथ ।
मैं सुनूं सर्वांग से, सब कामना से, चेतना से
हृदय की। अधिकार के उद्वेग भस्मीभूत करती—
प्रणय के उत्ताप को वडवाग्नि सी फैला कन्हैया ?
फिर सुनाओ वही वंशी, मैं सुनूँ यह तरु-लताएँ
कुसुम-कुकुम वात में भर विलसिता सी, अपहृता सी
सुरा के मस्तिष्कगत-अधिकार सी नाचा करें प्रिय !
फिर सुनाओ वही वंशी, मैं सुनूं यह जग सुने प्रिय,
लहर सा लहरा उठे थिर थिर थिरकता जगत-सागर,
और गूँजे तान वह पल में, विपल में, दिवस निशि में,
धरा पर, आकाश में, उञ्चास पवनों में निरन्तर ।

[कृष्ण वंशी होठों से लगाकर बजाना प्रारम्भ कर देते हैं। राधा मुग्ध सी खड़ी होकर सुनती रहती है। होते-होते वंशी की ध्वनि इतनी तीव्र हो जाती है कि इधर-उधर से भागती राधा की सखियाँ आ जाती हैं और मूक सी, वंशी की लय में लीन हो जाती हैं। मानो उनके अंग-अंग शिथिल हो गए हैं। चेतना सरस होकर वंशी की लय बन गई है। एकाएक लय के साथ ताल देकर नाचने लगती हैं। राधा भी उन्हीं में सम्मिलित होकर नाचने लगती है, उस समय छम-छम की ध्वनि से सारा प्रदेश गूंज उठता है। धीरे-धीरे चन्द्रमा अस्ताचल की ओर जाने लगता है। बहुत देर नाचते रहने और वंशी-वादन के बाद—]

विशाखा—(जाग्रत सी होकर)

हृदय मन्मथ-सौख्य से श्लथ, विसुध गृह पथ आज मैं री,
छहरता सा चल तरल-जल लहर सा तन-मन तरंगित।
प्राण चंचल, हृदय विह्वल, विश्व-सबल कृष्ण केवल।

राधा—(भूली हुई सी)

सुरभि विह्वल इस निशा में भानुजा के रम्य तट पर,
प्राण की सब चेतनाएँ एक स्वर से गा रही हैं,
गा रही हैं री, मधुरतर हृदय का अनुराग पीकर,
मन्दवासित पवन-कम्पन मन भरे स्वर-ताल सारे,
शशि-किरण सी छलछलाती शुभ्र हीरक-रेख तिरछी
काँपती सी गुनगुनाती सुन रही हैं वही स्वर ले,
औ' उसी लय में भिगोकर उत्तरंगिनि निज तरंगें—
भर उमंगें, विश्व-कण के पुलक में आशा सँजोए—
ताल से गातीं, थिरकतीं, उमगतीं, फैलीं मिलीं सी
उसी ध्वनि से, उसी स्वर से, उसी लय से, मूर्छना से,

ताल में न्हाई हुई संकोच लघु छाई हुई सी
पथ विपथ का, तरु कुसुम का, सुखद सा अरमान भरकर—
आज मेरे लघु हृदय में विश्व का मद झर रहा है।
मैं सभी भूली, कहाँ हूँ, कौन हूँ, क्या रूप मेरा
एक गीत समस्त सी अविरल अखिल की मूर्ति मंजुल।

विशाखा—

आस, इच्छा औ' सभी आकांक्षा, अधिकार भूली,
क्या न जाने हो गई हूँ रति विरति की एक ध्वनि ही।

सब—(कृष्ण की ओर संकेत करके गाती है)

गीत

यह कितना मृदु, कितना मोहक, कितना मीठा संसार सखे!
सरिता भी मृदु, सागर भी मृदु, आनन्द अनन्त अपार सखे!
जो समा न पाता जीवन में;
जो बिखर न जाता जीवन में,
जो उठता रह रह रोम रोम,
जो फैला कण-कण व्योम-व्योम,
अधखिली कली के स्वप्नों सा हो उठा वही साकार सखे!
यह कितना मृदु, कितना मोहक, कितना मीठा संसार सखे?

कृष्ण—

है क्षणिक सभी कुछ यहाँ अरी,
छीजती विपल-पल प्राण तरी,

अक्षय पर जीवन का प्रकाश,
जिसका जग केवल एक श्वास,
ये सभी कलाएँ निर्जर के निर्झर की सतत फुहार सखी।
यह कितना मृदु, कितना मोहक, कितना मीठा संसार सखी।

राधा—

लहरों-सा लहराता छल-छल,
वल खाता जाता सरिता जल,
कलियाँ यह मीठी गन्ध सनी,
सब इस जीवन के लिए बनीं,
हम क्यों न पिए छल-छल करता, जीवन का पारावार सखे!
यह कितना मृदु, कितना मोहक, कितना मीठा संसार सखे!

कृष्ण—

है यही तो शुद्ध-सात्विक, सरस-रस जीवन मही पर
हो न उसमें यदि कहीं भी लेश मन की वासना का।

विशाखा—

किन्तु यह तो कठिन तम है, योगियों का कार्य होगा?

राधा—

हम अबोध, अजान माधव, जान यह कैसे सकेंगी?

कृष्ण—

किन्तु हममें भी वही हैं प्राण जो इस जग पुलक में,
प्रेम सा सात्विक हृदय के निष्कपट व्यवहार सा सित,
प्राण सा मोहक, अमृत के सिन्धु सा क्षीरोधि नभ का,
झर रहा है किरण के मिस नया जीवन, नया चेतन,

नया साहस और नव उल्लास भूपर भर रहा है।
सिहरती यमुना पुलकती सी दिखाई दे रही है,
थपथपाने पर फुरहरी उठी सी लहरें लहरतीं—
प्यार की, मनुहार की मीठी तटों को चूमती सी।
और ये तरु कुसुम किसलय। मंजरी, मंजीर भृंगी
पुलकते से सुन रहे हैं मग्न तन-मन लग्न चेतन;
और अणु अणु में प्रकृति के व्याप्त चेतन में फुहारें
प्राण जीवन को न्हिलाए दे रही हैं।
सुन रहा हूँ, सतत वंशी-रव प्रकृति का
उल्लसित मन को मनोमय कोश को जो कर रहा है,
अनवरत अक्षय अथच अज्ञेय, ज्ञानातीत, शोभन,
सुना तुमने ? सुनों, मेरी वाँसुरी उसके स्वरों का
नाद लेकर सम विपम को तान लेकर बजा करती।
फूटते हैं कोटि जीवन कोटि-कोटि अनंत सर्जन
सुन रहा हूँ मैं; वही तो नाद ब्रह्म अखण्ड, चिन्मय।

[तन्मय हो जाते हैं]

विशाखा—(कुछ भी न समझकर)
अरे इतनी वहुत वातें, हमें क्या मालूम, क्या सव,

कृष्ण—(फिर चैतन्य होकर)
अहा, कण-कण में वही स्वर गूँजता है तीव्रतम का,
और शत-शत राग रागिनि सव अनाम, अछंद वजते,
सुन रहा हूँ मैं, लहर में, किसलयों में, कुसुम-दल में,
यहाँ तक यह घास भी गाती प्रफुल्लित हो रही है।
एक अक्षय लास्य में भी हास्य में नव वाँसुरी वन !

मैं उसी का एक स्वर हूँ मंद तार विहार राधे ?

[रुककर]

मैं वही हूँ, वही स्वर हूँ, वही वंशी रव समुद्भव—

सुनो, सुनती हो, सुनो राधे, वही तुम, तुम विशाखे ।

[कृष्ण प्रकृति में तन्मय हो जाते हैं। दोनों आश्चर्य-मुद्रा में देखती रहती हैं।]

तीसरा दृश्य

समय : रात्रि

[उसी कुंज में पहले की तरह सब ओर शरद की पूर्णिमा का प्रकाश फैल रहा है। चन्द्रोदय से सब ओर दुग्ध स्नात सा धवलित हो गया है आनन्द की तरह श्वेत। राधा उसी कुंज में एक शिलाखण्ड पर बैठी है। उसने वैसी एक वंशी बना ली है जो उस समय उसके हाथ में है। प्रतीक्षा में कभी राह की ओर देखती है, कभी चित्त के उद्वेग को दूर करने के लिए उठकर इधर-उधर घूमने लगती है। फिर बैठ जाती है, फिर लम्बी साँस लेकर खड़ी होकर देखने लगती है। पत्ते के खड़कने से चौकन्नी सी होकर उधर देखने लगती है। इतने में एक ओर से आने की सी आहट सुनाई देती है, सतर्क होकर उधर देखने लगती है, मानो क्षण-क्षण निश्चय की ओर बढ़ रहा है। छाया सी कुछ पास आती देखती है। ध्यान से देखने पर जानती है कि एक गाय पास से आकर निकल गई है। हताश होकर फिर बैठ जाती है। एकाएक वंशी बजाने लगती है, बजाने का पूरा यत्न करने पर भी उसे ज्ञात होता है, वंशी ठीक नहीं बज रही है। स्वर बिखरकर बोल रहे हैं, लय नहीं सध पाती। फिर उठकर इधर-उधर फिरने लगती है। अन्त में गाने लगती है—]

[गीत]

चिर-प्रतीक्षा, चिर-मिलन की रात
उलझता क्यों आँधियों में भाग्य का अज्ञात।
हृदय की सब शृंखलाएँ
तोड़कर अनजान।

अलग्व सीमाहीन पथ को—
चल पड़ी पथ मान ।
एक साहस है पुराना,
एक टूटी आस ।
कहाँ जाऊँगी न जाना,
कहाँ प्रिय का वास ?
कण्टकित पथ, तिमिर रजनी, धुंध धूमिल वात
चिर प्रतीक्षा, चिर मिलन की रात ।

[विशाखा का प्रवेश]

विशाखा—

आज कोकिल कण्ठ से भी सरस मीठा गान सुनकर,
मुग्ध सी मैं हो गई हूँ, हो गया तन-मन प्रफुल्लित ।
रोम-रोम प्रहृष्ट राधे, हृदयहारी स्वर-लहर यह ।
भर्त्सना, कटु-व्यंग्य, निर्वासन तथा अति दण्ड सारे,
छिले छाले, पके क्षत की तरह सहती आ रही थी—
किन्तु तेरे स्वर-मधुर ने, गीत ने पीड़ा बहा दी ।

राधा—(उसी तन्मयता में)

भूत-आगत बीच बेला वर्त्तमान अमान लघु सी,
यह समीहित मधुर धारा आज आई कठिनता से,
पर न वे आए जिन्हें हम चिरन्तन अभिलाप रख उर—
इस महान् विकल्प जीवन में हृदय सम चाहती हैं ।
आज के क्षण प्रतीक्षा के युगों से लम्बे न जाने,
प्रलय से भारी न जाने, याद से मीठे न जाने,
गरल औ' पीयूप मिश्रित तिमिर औ' आलोकमिश्रित ।

क्या हुआ, वे क्यों न आए—एक समय पर समर्पित थी—
सभी जीवन की शुभाशा, तप्त प्राणों की पिपासा।
क्या हुआ, वे क्यों न आए, बाँधकर जो ले गए हैं—
सभी अन्तर की प्रतिध्वनि, गति, नियति, रति राशि राशि ?
क्या हुआ वे क्यों न आए, देखती आँखे बिछाए—
सम विषम पथ पर अकेली हृदय का स्पन्दन सुलाय,
क्या न तू कुछ भी कहेगी, क्या कहे विन रह सकेगी,
क्या न है तूफान तेरे प्राण-मन में गगनचुम्बी ?

विशाखा—

मैं कहाँ जाऊँ सखी री, सब हुआ है व्यर्थ जीवन,
उधर है परिवार मेरा, शत्रु मेरा, काल मेरा,
भर्त्सना परिवार की सहते पका है आज यह मन।
इधर है यह आग जलती निशि दिवस पल-पल हृदय में
निठुर मन क्या मानता है पकड़ ली जो राह इसने,
—राह जिसका छोर कोई नहीं गाया सत्य तूने
'अलख, सीमाहीन पथ को चली सीमित मान' मैं भी।

राधा—

मैं कहूँ किससे कि होता क्या रहा है साथ मेरे,
अग्निदाह हुआ न जीवित का यही था शेष मुझको,
भर्त्सना, कुत्सा, अनादर, व्यंग्य, गर्हा क्या न पाया ?
अभी उस दिन क्या कहूँ री, श्वसुर मेरे गृह पधारे
कहीं से कुछ सुन सुनाकर उचककर कहने लगे यों,
"मैं कुलीन महान्, सुत भी,—क्यों न यह जीती-मरी है;
यह सुवंश-कलंक दायिनि, लांछिता, कुलटा, कृतघ्ना !

क्या इसे है लाज कोई नहीं, सब क्या धो गवाई ?
मैं न ऐसी से रखूँगा भूलकर सम्बन्ध कोई,
है पतित अथ गर्ह्य पातक-लांछिता वृषभानु पुत्री ।"
और इतना कह पिता से भग्न सब सम्बन्ध करके—
चले ही तो गए माता पिता को वरदान देकर
रुदन का, अपलाप का; पर मैं सुखी थी, दुःख छूटा;
किन्तु प्रातः हो न पाया एक अभिनव और आया
विनय, अनुनय, दीनता की, त्रास की प्रत्यक्ष प्रतिमा ।

विशाखा—

कौन था वह, कौन था सखि !

राधा—

वही जिसका जनक जल-भुन
दे गया सौ सौ मनोहर, शुद्ध, सालंकार गाली ।

विशाखा—

हाँ, अरे हाँ ठीक, मैं भी सोचती थी कौन होगा ?

राधा—

खूब तत्ते हुए पहले पिता की अनुकारिता की,
किन्तु मैं तो मौन थी जड़, मूक सी मानो किसी ने,
सी दिये हों होंठ केवल कान थे श्रवणार्ह चेतन,
सभी सुनने के लिए, औ' हृदय को पावक समझकर,
हीन-प्रत्याशा अपरिमित शब्द जल से डुबो देकर—
किसी ने जैसे चुना हो पात्र निन्दा का मुझे ही ।

विशाखा—

और है ही पास क्या विधि के नवाविष्कार नर के ?

राधा—

फिर विनय-अनुनय किया पादान्त समझाया बहुत कुछ,
किन्तु मैं तो सत्य ही पाणिग्रहण से विरत ही थी।

विशाखा—

क्या न कन्या का बना अधिकार कोई भी कहीं भी,
क्यों कड़ा प्रतिबंध निर्दय पिता के स्वेच्छाचरण का ?

राधा—

यही तो कहते कन्हैया, विश्व में है भ्रांति भारी,
नालियों से जिस तरह बहता निरन्तर वारि फिर भी
पंक, काई और पिछलन जमा रहता; रूढ़ियाँ भी,
है इसी विध अंध का विश्वास भी तो सब जगह ही;
रूढ़ियाँ ही नर पतन का एक कारण महापंकिल।

[श्रीकृष्ण का प्रवेश। उस वनश्री तथा चन्द्र शोभा में राधा और विशाखा को देखकर]

कृष्ण—

अहा, यह क्या हो रहा है, इस शरद की पूर्णिमा में,
चन्द्रिका विच्छुरित वेला मनहरण पल पल प्रकृति की,
विभव सा बिखरा हुआ है राशि राशि अमन्द सागर ?

[कृष्ण मुसकराते हैं]

राधा—(आँखों में आँखें डालकर)

हम न कुछ भी जानती, सुनती न कुछ भी देखती हैं।
महागुरु रमणीय, प्रियवर, छवि सुखद, मदसिन्धु मेरे,
तुम्हें पाकर भूल जातीं हम सँभार सुधार माधव !
रात-दिन कुछ भी न जाते देख पड़ते, देख पड़ते

एक केवल तुम मनोहर यह हृदय-लघु झील उसके,
लघु-विशाल अनन्त-कम्पन, अणु-महाअणु में समाये,
निर्झरी हम तुम सरित हो; हम नदी तुम महासागर,
हम हृदय, तुम मूक कम्पन; स्नेह, जीवन, शान्ति उसकी!

विशाखा—
बहुत समझातीं हृदय को बहुत धीरज दे थकीं हम,
पाठ करतीं हर घड़ी उपदेश जो घर से मिला था
किन्तु जो जलती प्रतिक्षण
[ठहरकर]
बुझे कैसे, मिटे कैसे ?

राधा—
हम महासागर कदाचित् एक अंजलि में पिये सब,
एक अंजलि में गगन-घन पी सकें, विद्युत् निगल लें
भूधरों को चूर्ण भी कर सकें इन कोमल करों से,
और विष भी पी सकें, मर भी सकें, पर जो न सकतीं।

विशाखा—
बिन तुम्हारे—

कृष्ण—(हँसकर)
सत्य ही क्या, आज कितना मैं सुखी सुन

राधा—(निहोरे से)
कौन सा अपमान है जो सहा मैंने नहीं घर पर,
कौन सा आतंक है जो मिला मुझको नहीं माधव ?
कौन सी पीड़ा जगत की जो न हँस मैंने सही है ?
पर कहाँ तक ज्वालसागर को प्रलय के पी सकूँगी ?
[घबराकर]

नहीं, मैं तो चाहती ही नहीं—मैं क्या चाहती हूँ,—
कौन जाने, जानती भी नहीं मन की प्रेरणाएँ।
हाय, कैसी हो गई हूँ—साध क्या मेरी नहीं हाँ,
उबलती रहती हृदय में तप्त प्राणों की पिपासा
मन्दमन्दोच्छ्वास धूमिल लिखा करती विधि गगन पर
कौन सी लिपि में न जाने, क्या न जाने रति विरत सी
डुबोकर अपने हृदय के सभी रस में कामना द्रुत
आज चंचल हो उठा है हृदय का उद्रेक सारा
उमड़ पड़ने को उदधि सा, बिखर जाने को शिशिर सा।
हाय, यह जीवन न जाने रोग सा आकर लगा क्यों,
ग्रहण सा, विष सा, विषम सा, विरति सा दुर्भाग्यनिधि सा?
किन्तु जाने और कुछ क्या सदा कोई खुरचता सा,
हृदय को अंगार सा तिल तिल जलाता बुझाता रह।
औ' तुम्हें पा सहस्रों शशि किरण सरसी स्नात सा हो
मलय मारुत चलित विकसित वल्लरी मन शान्ति पाता।

कृष्ण—

अरे, यह तो क्या न जाने क्या सुनाई दे रहा है!

राधा—

कहीं भी कुछ भी न माधव, तुम्हीं केवल, तुम्हीं संबल!

[पैरों पर गिर पड़ती है]

कृष्ण—(संकोच तथा अनुभूति से राधा को उठाकर।)

अरे, यह क्या कर रही हो, है न मेरा लक्ष्य ऐसा,
क्या हुआ तुमको न जाने!

कल मुझे प्रातः यहाँ से मधुपुरी को चले जाना,
आ गए अक्रूर लेने मुझे औ' बलराम को भी।

[सोचकर]

बहुत दिन हम साथ खेले, उठे, बैठे, हँसे, गाया,
हाय, कितने दिन सुखद थे सब बहुत ही शीघ्र बीता !
खेल खाकर दिन बिताए, औ' निशाएँ नाच-गाकर,
सभी अब यह स्वप्न होगा,—दूसरा है दृश्य आया।
द्वन्द्व हीन, अदीन मै तो कभी साहस स्वर न खोता,
उठो, खेलो, हँसो, गाओ यही तो शैशव सुनाता।
और यह क्या लगा बैठी प्रेम झंझट राधिके, तुम
क्या अभी ये प्रेम के दिन सखि, महा-जीवन पड़ा है।
बहुत कुछ करना जगत में तुम्हें भी, मै तो न जाने—
कर सकूँगा भी कि वे सब ठान जो मैने लिये हैं।

[देखते हैं, राधा के आँखों में आंसू भी आ गए हैं।]

अरे, यह क्या कर रही हो, क्यों, हुआ क्या, अरे पगली !

[इतने में उद्वेग की अधिकता से वह मूर्छित हो जाती है।]

है, हुई हतसंज्ञ यह तो विशाखे, दौड़ो, सलिल दो।

[विशाखा, जो अपने ही आप किसी विचार में थी, दौड़कर पानी लाती है। कृष्ण इस बीच में कुछ सोचते रहते हैं। विशाखा के जल लाने पर राधा के मुख पर छिड़कते हैं। राधा कृष्ण की गोदी में संज्ञा प्राप्त करके—]

राधा—

तुम मुझे मानो न मानो मै सदा ही—

विशाखा

अरी राधे !

क्या हुआ तुझको सखी, हा क्या कहूँ मै !

कृष्ण—(पूर्ववत्)

अरे पागलपन करो मत, हँसो, खेलो, इधर देखो,
मुझे अब तक कहीं कोई रही चिन्ता ही नहीं है ।
द्वन्द्व-हीन, प्रमत्त मैं तो सदा चिन्ता-हीन रहता ।
सामने जो आ पड़े उसको सहो साहस न हारो ।
हम सभी चेतन कड़ी हैं उस समाज विशेष के सखि,
उसे ही अच्छिन्न करते रहें यह ही सत्य सेवा ।
देश का हित भी इसीमें, इसीमें जीवन सफलता
देखती हो कंस कैसा दुष्ट संहारक प्रजा का,
और भी है देश के राजा अधिकतर नीच, पापी,
जिन्होंने कर्तव्य अपना नृपति का सब भुला डाला,
उन्हीं सब को ठीक करना ध्येय मेरा यही राधे !
चलो, पहुँचा दूँ तुम्हें घर, रात बीती जा रही है ।

[उठने का उपक्रम करते हैं]

[राधा कृष्ण की ओर देखती रहती है, कृष्ण अपनी धुन में कहते जाते हैं । एकदम कुछ सोचकर राधा कृष्ण के पैरों पर गिर पड़ती है।]

राधा—

आज जाना हे कन्हैया, आपको मैंने निकट से

[घोर कष्ट के साथ]

आपको यात्रा सुफल हो, चलो, पाओ, सफलता प्रिय,
और अपनी क्या—

[राधा सिसक-सिसककर रोने लगती है। कृष्ण सप्रेम उसे उठा लेते है। विशाखा साश्चर्य कृष्ण को देखती है।]

कृष्ण—

मैं तुम्हारा चिर सखा हूँ, विदा दो सखि !

[आँखों में नमी आ जाती है]

बुलाता है रोम-कूपों से ध्वनित कर्तव्य मेरा।

[राधा सस्नेह कृष्ण की ओर देखती रहती है, कृष्ण राधा की ओर देखते रहते हैं।]

चौथा दृश्य

(एक लम्बे समय के बाद)

[पतझड़ के दिन। एक सूखे मैदान में एक फूंस की कुटिया के बाहर चबूतरे पर चटाई बिछी है। राधा बैठी है—बाल बिखरे हुए, जिनमें गुलझटें पड़ गई हैं। मैला और फटा वस्त्र। चिरकाल से जिसने अपने शरीर की सुधि न ली हो, ऐसी कृश, पर सतेज स्त्री की आकृति। चिन्ता की मूर्ति। आसपास के सब वृक्ष कंकाल की तरह खड़े हैं। दक्षिण की ओर दिखाई देने वाली यमुना की धार भी बहुत संकुचित हो गई है। राधा बैठी देख रही है, पर उसकी आँखों से नहीं जाना जा सकता कि वह क्या देख रही है। दृष्टि सन्मुख होते हुए भी ध्यान न जाने किधर है। एकबारगी ही उठकर इधर-उधर घूमती है। एक ओर देखने लगती है, देखती रहती है। दौड़कर आसन के पास पड़ी वंशी उठा लाती है, और एक वृक्ष के पास खड़ी होकर एक पैर पर दूसरा पैर टेढ़ा करके जमाती हुई वैसे ही, जैसे कृष्ण वंशी लेकर बजाने के लिए खड़े होते थे, खड़ी हो जाती है। बजाती है, पर देखती है वंशी वैसी बज नहीं रही है। उसमें वह माधुर्य भी नहीं है, केवल वह बोलती है—निर्जीव सी। फिर न जाने क्या ध्यान आ जाता है। वंशी उसके हाथ से गिर जाती है। वैसी ही खड़ी रहकर गाती है—]

[गीत]

कौन युग से पथ निरखती,

हृदय में अंगार भरकर श्वास में पीड़ा छिपाए,

प्राण का उपहार लेकर साधना में स्वर सजाए,

चल रही हूँ मै युगों से—
युगो के पल-पग परखती।
कौन युग से पथ निरखती !
स्वर सँजोए, प्राण साधे, हृदय का दीपक जलाए,
शूल प्रतिपग, तिमिर ऊपर, तिमिर दाएँ, तिमिर बाएँ,
चली मै पग-चाप सुनने,
चली चुप-चुप पैर रखती,
कौन युग से पथ निरखती !
फूल सा हँस झड़ चुका है हृदय का उल्लास मेरा,
सतत पतझर से घिरा सा, अमा सा आकाश मेरा,
कहीं भी तुमको न पाकर
आँसुओं मे छवि पुलकती।
कौन युग से पथ निरखती !
[इधर-उधर देखकर और ठहरकर]

राधा—

वे गए, ऐसे गए मानो कि साँसे ही गई हो,
प्राण भी, हृत्कम्प भी, आशा मनोरथ साथ ही सब।
एक ठठरी रह गई हूँ, भावहीन, निरर्थ-भापा,
लता स्रस्त कली ढली, मद-लुठित भू, सौन्दर्य-विगलित,
सर्प-सी मरिगहीन गतमद। घन-विनिःसृत दामिनी श्लथ,
लुप्त-पथ, निर्जीव, मानो वृक्ष-हीन अरण्यदावा,
शरद के घन सी विमल जिसका न जीवन-अर्थ कोई;
क्रमरहित अप्राप्य स्वप्नों की कहानी हीन 'इति-अथ'।
रस नहीं जिसमें कही भी, स्वप्न भी जिसके हठीले,

हृदय कवलित, जलन भीगी, साधना-पथ से ढली सी,
शून्य रजनी, शशिप्रभा हत, उषा सूनी, दिवस नीरस,
मैं विगत की साध सी, जिसका न कोई पा सका पथ,
जहाँ कोई जा सका है नहीं उलटे पैर लेकर।

[कोई नेपथ्य से कहता हुआ सुनाई देता है]

'भूल री, सब भूल राधा, क्यों चली उस ओर उस पथ
जहाँ का आधार केवल एक टूटी भग्न आशा।
औ' निराशा ही जहाँ है व्याप्त जीवन में निशा में।'

राधा—(चकित होकर)

क्या कहा, किसने कहा, मैं भूल जाऊँ, विगत भूलूँ ?
है वही आधार जिसका, वही है जीवन-किनारा,
स्वप्न भूलें, प्राण भूलें और निज को भूल जावें ?
प्राण मेरे गुनगुनायें, हृदय का आसव सभी ले,
स्वप्न, जीवन, पल-विपल, अघ-पुण्य, कर्माकर्म, गति, यति
रति, सुरति, प्रिय कृष्ण की ले, नहीं यह सम्भव नहीं अब ?

[नारद प्रवेश करते हैं]

नारद—

क्या यही राधा, प्रबाधित, प्रतर्दित, पीडित, दुखी यों
द्वितीया के चन्द्र की सी कान्ति जिसकी हो गई है ?

राधा—(सामने देखकर और झुककर प्रणाम करती हुई)

हो प्रणाम, महान् गायक, हाँ, वही मैं दीन राधा !

नारद—

अहह, कितना कण्टकित पथ यह तुम्हारा अहित, हितकर

क्या यही उपयोग है पीयूप जीवन का गिराना
गर्त दुख में, व्यर्थ उसके हेतु, जिसने सुधि न ली हो,
और तुमको छोड़कर यों गया जैसे जीर्ण-कन्था ?

राधा—

धन्यवाद महामुने, उपदेश आदरणीय नारद !
पर अनधिकृत को दिया, की सुधा-वर्षा अनुर्वर में।

नारद—(आश्चर्य से)

अनुर्वर क्यों, देखती हो क्या नहीं—

राधा—

हूँ विवश हे मुनि,

है न मुझको ज्ञात कैसी हो गई हूँ, क्या हुई हूँ,
दिवस के लम्बे प्रहर उनकी प्रतीक्षा कर थके से,
नित्य जाते खोजने के हेतु सत्वर, अलक्षित-गति
साँझ दे जाते मुझे जीवन-मरण में खेलने को।
मैं बिछा सम्पूर्ण चेतन, हृदय की पीड़ा दबाए,
श्वास के पथ पर उन्हें ही खोजती रहती निरन्तर,
फिर अलख सी तिमिर रजनी जला देती एक आशा
तमभरे अन्तर्हृदय में, प्राण में, विश्वास-दीपक।
सतत उन्मुख वृक्ष मानो विहग-रव के मिस उचककर
कभी सुनते से दिखाते पद-ध्वनि, आहट उन्हीं की।

नारद—

क्या तुम्हें है ध्यान कुछ भी नहीं अपने मान का भी,
उस पुरुप से, जो अकेली छोड़ सब ठुकरा गया है,
औ' बसाया कहीं जाकर नया घर, शासन नया पा ?

यह सही होगा कि है वह पुत्र नृप वसुदेव का पर
नंद ने भी तो सदय बन निरन्तर पालन किया था,
औ' यशोदा ने कि जिसको प्राण से भी प्रिय समझकर
स्वयं दुख सह सुखी उसको किया कैसा कृत्य उसका ?

राधा—

यह सभी कुछ ठीक होगा, कदाचित् इससे अधिक भी,
किन्तु मेरे लिए तो यह प्रश्न ही कोई नहीं है।
मान औ' अपमान तो हैं द्वैत के ही रूप नारद !
कुहू में सब कुछ अलक्षित, तिमिर केवल, अन्ध केवल
इस तरह संसार में कोई मुझे मानव नहीं है,
एक वे ही पूर्व में, पश्चिम तथा उत्तर दिशा में,
और दक्षिण में, धरा, पाताल, नभ में एक वे ही !

नारद—

खो रही राधे, न जाने क्यों अमित सी व्यर्थ जीवन।
यह वयस जो मध्य दिनकर सी प्रखर, पूर्णेन्दु-शीतल,
मधुरतम यौवन-तरी क्यों बालुका में खे रही है !

राधा—(उसी भाव से)

यह सभी कुछ सुन लिया आभारिणी राधा महामुनि !

नारद—(उसी वेग से)

देखता हूँ, व्यर्थ ही जीवन तुम्हारा हो रहा है—
सृजन है सौन्दर्य नारी का गृह-श्री-मार्ग द्वारा।
है यही अतिकर्म उसका पति सहायक सृजन में हो !
है नहीं कन्यात्व औ' पत्नीत्व नारी रूप केवल
शुद्ध रूप महार्घ्य अभिनव विश्व में मातृत्व ही है।

राधा—

मै नहीं कुछ जानती नारीत्व का है ध्येय कैसा,
समझ भी सकती नही, कह भी नहीं सकती, कहूँ क्या !
'घोर रजनी में विगत के भग्न पर सर्वस्व हुति दे
प्राण का आसव चढ़ाये, स्निग्ध स्मृति का दीप वाले
खोजती हूँ क्या न पाऊँगी, मिलेंगे भी न क्या वे ?
जिधर से ऊषा हँसी थी तिमिररंजित कोण छूकर,
दैव की दृढ पीठ पर छल छल छलकता सौख्य घट धर,
जिधर से यह पुष्प जीवन का कली के स्मृति-पटल लिख
निज भविष्यत की कहानी, चला तारक चूगने को
और मधु मकरन्द बोझिल पवन के उन्मुक्त पथ में
डाल ढीला हो गया था हत, अनाश्रित हृदय-मर्दित !
देखती हूँ, क्या न पाऊँगी मिलेंगे भी न क्या वे ?
वही जीवन-दीप नारद, हृदय, आशा, श्वास, भाषा,
पुलक, चिन्तन, कल्पना, स्वर, ध्यान, कविता, धर्म, श्रद्धा,
प्रणय वे ही, कृत्य वे ही, साधना के देव वे ही,
सभी कुछ उनमें समाया रोम-रोम प्रपंच चेतन !

[आवेग की अधिकता में आकर]

वे यहाँ है, वे वहाँ है, हृदय में विश्वास, बल में,
कुसुम-कलियों में, लता में, वृक्ष में, सरिता-लहर में,
गगन में, पाताल में, भूधर, धरा, जीवन, मरण में !
पा गई सब स्वर्ग, सब अपवर्ग माधव !

[प्रसन्नता के अतिरेक से उठकर नाचने लगती है]

[गीत]

मैं स्वर्ग लूटकर लाई—
जो उफन रहे थे बादल,
इन पलकों पर खाते बल,
बिजली को हृदय लगाकर,
उडते थे ले नव-संबल,
उन कम्पित लहरों पर चढ,
शशि-सागरिका में न्हाई।
मै स्वर्ग लूटकर लाई—
मैने वह जीवन पाया,
जो नभ बनकर बिखराया,
कुछ मेघ बने, कुछ तारे,
कुछ रवि-शशि बनकर छाया।
मै महा विश्व की छवि ले,
मोहन मे आज समाई।
मै स्वर्ग लूटकर लाई!

[ध्यानस्थ होकर गिर जाती है]

[इन वाक्यों की ध्वनि बहुत देर तक गूंजती रहती है। मंत्रमुग्ध एवं मोद-विह्वल होकर]

राधिका के कृष्ण, माधव, कृष्ण, माधव, कृष्ण, माधव, राधिका के कृष्ण, माधव, पा गई यह…पा गई…सब स्वर्ग सब अपवर्ग माधव ?

[राधा को गिरते देखकर—]

नारद—(दु.ख से)
हाय, यह क्या ?—

हुई मूच्छित वासुदेव, बड़े निठुर तुम ?

[घुटने टेके राधा के सामने बैठकर]

महामुनि, ज्ञानी, अमानी, भक्त, योगी सभी देखे,
जगत देखा, बहुत देखा पर न ऐसा व्यक्ति देखा ।
मैं अभी तक मानता था एक निश्छल भक्ति अपनी,
किन्तु जाना सूर्य राधा और मैं खद्योत नारद !
चला था पथ से हटाने, परीक्षा लेने कुमति, मैं
किन्तु मैने विश्ववन्द्या आज राधा-रूप देखा ।
कहा था भगवान ने भी नहीं वैसा भक्त कोई ।

[तम्बूरे और खड़ताल पर गाते हुए]

[1]'निन्दति चन्दनमिन्दुकिरणमनुनिन्दति खेदमधीरम्,
व्यालनिलयमिलनेन गरलमिव कलयति मलयसमीरम् ।
सा विरहे तव दीना राधा—
वहति चलितमिवलोचनजलधरमाननकमलमुदारम्,
विधुमिव विकट विधुन्तुददन्तदलनगलितामृतधारम् ।
सा विरहे तव दीना राधा—
प्रतिपदमिदमपि निगदति माधव, तव चरणे पतिताहम्,
त्वयि विमुखे मयि सपदि सुधानिधिरपि तनुते तनुदाहम् ।
सा विरहे तव दीना राधा—
ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमतीवदुरापम्,
विलपति, हसति, विषीदति, रोदिति, चंचति, मुंचति तापम् ।
सा विरहे तव दीना राधा—

[ध्यान भंग होने पर]

---

१. यह गीत महाकवि जयदेव के 'गीतगोविन्द' से लिया गया है ।

ठीक है वे मोह-ममता-दया-मायाहीन, निर्दय,
भूल सब कुछ गये क्या वे रम गये नव विभव पाकर ?

राधा—(आँखें बंद किए उसी ध्यान में)
नहीं, ऐसा मत कहो, वे सुन रहे संसार मेरे
हृदय में बैठे हुए मुनि, प्राणप्रिय राधाविमोहन !

[मंत्र-मुग्ध सी]

चाहिए मुझको न कुछ भी प्रेम का प्रतिदान उनके,
वे महान् विभूति मैं लघु, वे सरित मैं लहर उनकी;
वे गगन मै तारिका हूँ, वे उदधि तूफान मैं हूँ !
वे जगत उद्धारकर्त्ता, मैं चरणरज एक कणिका;
मै न कुछ भी चाहती हूँ, चाहती हूँ यही केवल
मूर्ति उनकी हृदय में रख, प्राण की आकण्ठ पीड़ा
छलकती पीती रहूँ, पीती रहूँ युग युग प्रलय तक !
है न कोई और मुझको कामना इस कामना से।
वे नहीं होते कि जब तब कहीं भी कुछ भी न होता,
किन्तु कहता कौन है वे नहीं मेरे पास रहते ?
गुनगुनाते सदा सुनती और हँसती छवि निरखती।
विश्ववन्द्य अनिन्द्य प्रतिमा वही जीवन में विलसती
सब चले जाओ अकेला छोड़ दो, छोड़ो मुझे सब
है न मेरे पास कोई प्रश्न औ' उत्तर किसी का।
सभी भूली ज्ञान-गाथा, पिता-माता नहीं कोई।
सभी भूली, मैं न कोई किसी की केवल उन्हीं की।
अन्ध छाये, प्रलय गरजे, मुक्त वारिधि विश्व लीले
किंतु मेरा स्वर यही हो, यही ध्वनि हो, यही लय हो

राधिका के प्राण माधव, राधिका के प्राण ..... ।

[नारद की आँखों में आँसू भर आते हैं]

[राधा बोलती-बोलती मूक हो जाती है, कभी आँख खोलकर इधर उधर-देखती हैं कहीं भी कुछ न पाकर हृदय की पीड़ा से व्यथित होकर धीरे-धीरे गाती है]

[गीत]

ओ रे हृदय, विरह की पीड़ा सहता चल सहता चल,
प्रिय की स्मृति सरिता में अनथक बहता चल बहता चल।
आग लगी है इन कुजों मे कुसुम जल रहे किसलय,
प्रिय की मिलन कहानी लिखती उल्का मेरा परिचय
दुखियारी साँसे आशा के सीकर पीकर जीतीं ।
मुरझाई मन की सब कलियाँ नही रही परतीति ।
जाने कौन पी रही तनका मनका सुख क्या जाने ?
मैं निज को पहचान न पाती वे फिर क्यो पहचानें ?
धूमिल दीप शिखा की वाती होती जाती पल पल,
ओ विरहा तू ही वाती बन कहता चल कहता चल
ओ रे हृदय, विरह की पीड़ा सहता चल सहता चल !

[चुप हो जाती है]

विशाखा—

यह कली मुरझा रही है, है नही उपचार कोई।
है नही आधार कोई क्या करूँ किससे कहूँ मैं ?
वियोगिन का प्राण जीवन जल रहा है जल रहा है,
विरह का धुंआ उमड़ सब छल रहा है छल रहा है,
स्वप्न की स्मृतियाँ जलाती हृदय को तन को उबलकर

[देखती है। राधा चौंककर फिर गा उठी है उसकी आंखों से आँसू की झड़ी लग रही है]

[गीत]

राधा—

नयन सीप के सागर से झर-झर झरता पानी रे !
रूठे उन नटनागर से कैसे कहूँ कहानी रे,
कहा किसी ने आये वे मैं भूली हुलसानी रे,
हूक उठ रही अंतर में आग लगी अनजानी रे,
मुझे देख मुसकाये वे मैं पा उन्हें लजानी रे,
नयन सीप के सागर से झर-झर झरता पानी रे !

[फिर मौन हो जाती है। फिर धीरे-धीरे गाती है]

उन्मादी मन जल रे जल
प्रिय की रूप विरह दावा में मन का लावा रहा उबल,
रोम-रोम की पीड़ा में भी वही रूप वह छवि झांकी,
भीतर वाहर वही दीखता वही दीखता एकाकी।
अपने प्रिय की रूप सुधा तू पी रे पी चितवन चंचल
उन्मादी मन जल रे-जल।

[एकदम कोई स्मृति जाग उठती है उस समय—]

[गीत]

कुछ न कह सकी कह कर भी, री ?
रोक न सकी प्राण की छवि को प्रेम-सिन्धु में बहकर भी, री।
रूठ गई वाणी ही मुझ से, रूठ गए वे क्षण भी आकर,
चले गए ले गए प्राण भी जाने क्या वंशी में, गाकर,
जीवन टिका हुआ आँखों में गिनता है आगत की धड़कन।

खिसक रही आँचल से स्मृतियाँ खिसक रहा जीवन से जीवन,
मैं वंशी वन सकी न उनकी वंशी के संग रहकर भी, री।
कुछ न कह सकी कह कर भी, री।

[गीत गाते-गाते मान का भाव जाग्रत हो जाता है उस समय—]

मैं अव उनसे कुछ न कहूँगी—
आँसू की यमुना में अपनी खेती नाव रहूँगी।
जो वाणी दे गए विरह को वही वन्ध खोलेगा,
विरह पपीहा मिलन स्वाति जल पी, वोली वोलेगा;
मेरा स्वर्ग सदा से सूना प्रिय का स्वर्ग सही, रे,
मैंने जग की लीक छोड़ री उनकी लीक गही री।
आह भरूँगी नहीं प्रेम की अनबुझ दाह सहूँगी।
मैं अव उनसे कुछ न कहूँगी।

[कोई उपाय न देखकर आँखों के आगे अंधकार छा जाता है जैसे सब काला-काला कृष्णमय हो गया है।]

दिन वन गए अमावस रात—
काली साँझ दोपहर काली काला स्वर्ण प्रभात।
काली कुंज फ़ूल फन्न काले काली यमुना धार,
वंशी-वट यमुना-तट काले काला सव संसार।
मुझको प्रिय यह जीवन भूला सखि, मेरा प्रिय काला,
डूव गई काले में मैं तो वह मेरा उजियाला।
भीतर वाहर रहे घुमड़ती श्याम मेघ वरसात,
दिन वन गए अमावस रात।

[जैसे सव कृष्ण में डूव गया है। वहुत देर तक खड़ी रहने के वाद असंज्ञ हो जाती है।]

नारद—(घबराकर)

यह हुआ क्या, हो गया क्या प्रेम-पावन-मूर्ति राधा,
शुद्ध मानव-तत्त्व की,—अनुराग की आकाश-सरिता,
आज अन्तर्हित हुई है प्रणय-सागर में विषम के,
विषम की—सम की, मनोरथ कल्पना की शुद्ध आहुति !
यह शरद की पूर्णिमा सी और वे जीवन-कुमुद से
खिल गये सम्पूर्ण चेतन् ले क्षणों को युग बनाकर।
राधिका है और कोई नहीं केवल प्रकृति-सुन्दरि,
स्नेह की. सुख की, स्पृहा की, त्याग की अनुराग-वाणी।
राधिका है और कोई नहीं, है वह श्वास, विभ्रम
प्रेरणा, हेला, हँसी, मुसकान मंजुल, पूर्ण जीवन,
—पूर्ण जीवन वासना से हीन मानव-कामना का।
राधिका है और कोई नहीं, केवल कली का स्मय,
पुष्प का उल्लास, विधु का हास, सरिता की तरंगें,
—जो खिली, चमकी, हँसी, लहरित हुई स्मृति-जग बनाकर
सदा ही के लिए मानव-श्वास में उन्मुक्त गति से !
वह शिला सी, वज्रकीलित रेख सी प्रियमय हुई है।
धन्य वे, अति धन्य जननी, पिता, भ्राता, बन्धु, नागर,
धन्य ब्रज की यह धरा, यमुना, निकुंजे, बाट, वीथी,
गाय-बछड़े, सखी-साथी संग पाकर हुए पावन।

[गंभीर तथा स्थितिप्रज्ञ नारद राधा को देखकर]

विश्व की अभिवन्द्य प्रतिमे राधिके, तेरी प्रतिज्ञा
सत्य से, तप से, हृदय से, प्राण से, कृति से, सुकृति से,
कर्म से, फलप्राप्ति से, आलोक से छायानुगति सी,

ब्रह्म से मायानुरति सी, बद्ध हो तुम कृष्ण से सखि !
कृष्ण के सँग ही तुम्हारा नाम होगा, धाम होगा,
प्राण होगा, कर्म होगा, विभव होगा, कामना भी,
राधिके, उनके हृदय की श्वास भाषा कल्पना तुम,
कृष्ण राधामय हुआ है, आज राधाकृष्णमय सब ।

[धीरे-धीरे सूर्यास्त होता है । नारद देखते हैं राधा का रूप अन्धकार में एक हो जाता है और राधाकृष्ण की प्रतिच्छवि उसी अँधेरे में चमकती दिखाई पड़ती है ।]